बालिका वधू

বালিকা বধূ

विमल कर

कहानी थोड़ी पुरानी है। समय के विचार से इसे तीन युग पूर्व की कहा जा सकता है। राजा पंचम जॉर्ज के सिर की छाप वाले रुपये का चलन था उस समय। हम लोगों का किशोर-काल था। अब तो उस समय का रुपया नहीं चलता है, शायद यह पुरानी ग्रामीण कहानी भी आज-कल नहीं चल सकती। इसपर भी उसे लिखने की साध जगी है।

मेरे पिता स्वर्गीय शमशेरसिंह जी अद्भुत प्रकृति के व्यक्ति थे। आचार-विचार में दूसरे लोगों के साथ उनकी तुलना नहीं की जा सकती, इस संबंध में अन्य लोगों से उनकी समानता नहीं थी। उनकी प्रकृति भिन्न प्रकार की थी, आकृति भी देखने योग्य थी। ऊंचाई में छः फुट और मोटाई में, अनुमानतः, चार फुट का घेरा था।

पिताजी के दोनों हाथ काफी लम्बे थे, मेरुदंड सबल और सीधा था तथा शरीर का रंग पके बेल की तरह था। पुरुष के केश-विन्यास को वे स्त्रियोचित आचरण मानते थे तथा अपनी धारणा के प्रमाण-स्वरूप अपने सिर पर बाल थोड़े भी नहीं बढ़ने देते थे। हम लोगों के घर का बंधा हुआ नाई था, वह रोज सवेरे पिता जी की शेव करता था और हर रविवार को सनराइज उस्तरे से उनका सिर मूड़ता था। आवश्यकतावश वे सिर पर सफेद पगड़ी बांधते थे। बड़े आश्चर्य की बात थी, केशों के प्रति पिता जी की अप्रसन्नता के बावजूद उनके मुख-मंडल पर मोटी-घनी भड़कीली मूछें थीं। वे मूंछ रखने को पुरुषो-

चित मानते थे।

मेरे पिता यज्ञोपवीत धारण करते थे। उनसे हम लोग जान सके थे कि हम लोगों के पूर्वज राजपूत थे। मेरे पितामह अनेक कारणों से अपने मूल निवास-स्थान और सगे-संवंधियों को छोड़कर वंगाल चले आए थे। वंगाल का जो भाग वर्धमान ज़िले की आर्द्र जलवायु और सजल श्यामलता को खोकर क्रमशः कठोर और लाल हो उठा है, जहां विस्तृत मैदान, पलाश और वनैले खजूरों की झाड़ियां और कोयले-खदानों की जलती भट्टियां हैं, पितामह उसी स्थान के स्थानीय अघोरी, चट्टराज, पंखी, सहाना, मांझी आदि जाति के लोगों के साथ मिल-जुल कर उसी समाज के एक अंग हो गए। हम लोगों के कुछ निजी आचार-व्यवहार का अंतःपुर में कुछ समय तक पालन होता रहा। पर क्रमशः वे लुप्तप्राय हो गए। हम लोग सभी प्रकार से सामाजिक कर्मों तथा शिक्षा-दीक्षा में वंगाली-समाज के अनुयायी हो गए। मेरी माता जी एक स्थानीय वंगाली कोठी-गुमाश्ता की कन्या थीं। वे श्रीयुक्त तथा लक्ष्मी-स्वरूपा थीं, शायद इसीलिए उनका नाम थ लक्ष्मी।

माता-पिता की तीन संतानें थीं। मैं ही ज्येष्ठ पुत्र था, मेरी वहन चन्द्रा मेरी पीठ पर की थी, उसके और मेरे वीच डेढ़ वर्ष का अन्तर था। छोटा भाई हम लोगों से छः-सात वर्ष छोटा था। पिता जी ने उसे सदा ही 'धर्मराज' कहकर पुकारा है। भाई के धर्मराज होने का कोई विशेष लक्षण उसके जन्म-लग्न में मिला हो, ऐसी वात नहीं; किन्तु जव उसका जन्म हुआ तव पिता जी अपने कमरे में बैठ कर महाभारत के अठारहवें पर्व का पाठ कर रहे थे, दो नर-विल्लियां वाहर के वरामदे में एक-दूसरे को लड़ने के लिए ललकार कर गर्जन-तर्जन कर रही थीं, कनिष्ठ पुत्र के जन्म का समाचार पाकर महाभारत

को बंद करके पिता जी ने सद्यःजात पुत्र की अभ्यर्थना धर्मराज नाम से की।

मैंने पहले भी कहा है, मेरे पिता अद्भुत प्रकृति के व्यक्ति थे। देवी-देवता के प्रति शायद उनकी कोई दुर्बलता नहीं थी, वे पूजा का प्रसाद ग्रहण नहीं करते थे, अर्घ नहीं देते थे, जबकि धर्म एवं सामाजिक आचरणों में उनकी निष्ठा थी। नित्य स्नान के पश्चात् सूर्य-मंत्र जपना एवं रात में महाभारत, गीता आदि का पाठ करना उनकी आदत थी। वे विद्यासागर के बड़े भक्त थे। भक्तगण साधारणतः भावुक तथा अत्यधिक उत्साही हुआ करते हैं। पिता जी के चरित्र में ये दोनों गुण बिल्कुल न हों, ऐसा नहीं। तब शायद विद्यासागर जी जैसे महापुरुष के प्रति पिताजी के आकर्षण का विशेष कारण था— विद्यासागर जी के चरित्र का पौरुष रूप। पिताजी एक बार पास के किसी गांव में विधवा-विवाह कराने गए थे और उस सिलसिले में उन्हें थाना-कचहरी के चक्कर काटने पड़े थे। बाद में उन्होंने गांव में विद्यासागर के नाम से एक पाठशाला खोल दी थी, वहां गांव के बालक-बालिकाएं निःसंकोच सवेरे भूंजा और चना चबाते और मुफ्त में मिले विद्यासागर-रचित वर्ण-परिचय के पन्ने फाड़ते। कुछेक बाउरी तथा उसी तरह की निम्न जातियों के शिशुओं को भी पिताजी को विद्यासागर-पाठशाला में नंगे भूंजा फाकते देखा है। वह विद्यालय अब नहीं है।

पितामह हम लोगों की अवस्था को सुखी-सम्पन्न बनाकर इहलोक से विदा हुए थे। पिताजी ने उस सुख-सम्पन्नता में उत्तरोत्तर वृद्धि की। जगह-जमीन, धान, घर-मकान आदि पहले से ही थे, बाद में पिताजी ने कोयले की खदान में कंट्रैक्टरी काम लिया, वे लारी चलवाते और बीच-बीच में पुराने लोहे-लक्कड़ को नीलाम में ?

बेच देते। एक बार एक टूटा हुआ बॉयलर खरीदा और गांव में लाकर उन्होंने आधुनिक भट्टी में वैज्ञानिक पद्धति से ईंट तैयार करने की चेष्टा की। दुःख की बात है कि उस टूटे बॉयलर के पीछे पैसा तो खर्च हुआ, पर ईंट तैयार नहीं हुई। पड़े-पड़े वह सांपों का अड्डा बन गया, करैत सांपों का उपद्रव बढ़ा। इसलिए उस टूटे बॉयलर को लॉरी से दूसरी जगह भेजने के सिवाय कोई दूसरा उपाय न रहा।

बुढ़ापे के आस-पास पिताजी के दिमाग में दो सनकें सवार हुईं। पता नहीं कैसे, उनकी धारणा हुई कि किशोर-विवाह हम लोगों के समाज और परिवार के लिए सर्वाधिक मंगलकारी है। इस विषय को लेकर उन्होंने पचपन पृष्ठों की एक पुस्तक की रचना की और उसे अपने पैसों से प्रकाशित कर वे उसे मुफ्त बांटने लगे। उनकी दूसरी सनक थी आर्य समाज की भांति एक नई संस्था खोलना। दूसरी सनक चिरस्थायी नहीं हुई, किन्तु उसका एकमात्र फल यह हुआ कि उस समाज के अनुशासन से हम लोग सामाजिक मेल-जोल में प्रायः शिष्ट-भाषा प्रयोग करने की चेष्टा करते, कारण, वही शायद शिष्टाचार-सम्मत भाषा थी।

पिताजी की पहली सनक हम लोगों के जीवन में स्थायी हुई है। कहने में और तथा करने में और—पिताजी ऐसे स्वभाव के व्यक्ति नहीं थे। किशोर-विवाह कितना उपकारी और मंगलकारी है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण दिखाने के लिए उन्होंने चन्द्रा और मेरा विवाह कराया; एक ही महीने में कुछ दिन आगे-पीछे। मैं उस समय चार मील दूर-स्थित लोहा कारखाने के हाई स्कूल में सेकेंड क्लास में पढ़ता था। उस समय मेरी उम्र सोलह साल थी, चन्द्रा का चौदहवां पूरा हो गया था। उस समय मेरी मसें भींग रही थीं और चन्द्रा साड़ी पहनने लगी

थी तथा सिर पर मुश्किल से एक हाथ लम्बे बाल होने पर वह 'गोपा' जैसा 'फेड़ा' बनाती थी। निस्सन्देह मुझे सिर पर बाल रखने की मनाही थी। किन्तु माता-पिता के जीवित रहते सिर मुडाऊं, इस-पर मेरी मां को घोर आपत्ति थी, फलतः मेरे माथे में यात्रा-दल के दीन ब्राह्मण के नकली केश की तरह, रूखे-सूखे केश थे, उन्हें केश न कहकर 'मकेश' कहना ही संगत होगा। चन्द्रा को बनारसी साड़ी में नवपत्रिका की तरह लपेटकर विवाह-मंडप में बिठाया गया था। मुझे क्षत्रिय राजपूत का अनुकरण करते हुए जरी का काम किया हुआ मखमल का पिरहान और कुर्ता पहनकर और पगड़ी बांध करके विवाह-यात्रा में जाना पड़ा था। वंश-परम्परा के अवशेष के रूप में पिताजी के हाथ में एक कोषबद्ध तलवार थी।

जो भी हो, इस विवाह का परवर्ती अध्याय ही मेरी कहानी है। पिताजी का जितना परिचय मैंने दिया है, उतना न देने पर कहानी की भूमिका न जमती।

दो

मेरी बालिका वधू का नाम था रजनी। घर में सभी उसे 'चीनी' कहकर पुकारते थे। पिता के घर में इसी नाम का प्रचलन अधिक था, यहां तक कि हमारे विवाह के समय कन्या-पक्ष वालों ने जो 'रुमाल-पद्य' छपवाया था, उसमें नलिनी दीदी ने अपने [illegible] में रजनी का उल्लेख चिनियाता दही (चीनी-सहित जमाया हुआ दही) कहकर किया था। दही मीठे दूध से जमाया जाता था [illegible]

नहीं, किन्तु उसका पूरा स्वाद पाने के लिए मुझे दीर्घकाल तक प्रतीक्षा करनी पड़ी।

विवाह के समय रजनी का चौदहवां वर्ष पूरा हो गया था। यह बता देना आवश्यक है कि मेरे पिताजी बाल-विवाह के घोर विरोधी थे, फलस्वरूप तेरह वर्षों तक इस कार्य के सम्पन्न होने का कोई उपाय नहीं था। उनके मतानुसार बाल्यकाल अधिक से अधिक तेरहवें वर्ष तक खींचा जा सकता है, उसके बाद किशोरावस्था। अपनी कन्या के विषय में भी पिताजी ने इस नियम का पालन किया था।

समवयस्का होने के फलस्वरूप चन्द्रा और रजनी के बीच की स्वाभाविक आत्मीयता गम्भीर सखीत्व एवं प्रेम में परिणत हो गई थी। कन्या एवं पुत्रवधू के निकट रहने पर मेरे पिता, प्रबल प्रतापीसिंह जी भी गरजना भूल जाते थे, माताजी का मुंह हंसी से भरा रहता था और नाबालिग भाई अपने 'पेंटुल' के सम्बन्ध में सतर्क रहता था। किन्तु ननद-भौजाई एक साथ बहुत अधिक नहीं रह पाती थीं। वर्ष-भर में दो-चार बार उन दोनों को एक साथ रहने का सुयोग मिलता था, यह तभी होता था जब पर्व-त्यौहार में रजनी को ससुराल और चन्द्रा को मायके लाया जाता।

चन्द्रा के पति का नाम शरत् था। शहरी लड़का होने के साथ-साथ वह उम्र में मुझसे थोड़ा बड़ा था। शरत् शरद-ऋतु की तरह ही हास्य-मुखर था। उसकी गठन दुबली-पतली, रंग खूब गोरा तथा दोनों आंखों में बुद्धि और चतुरता की छाप थी। शरत् शहर के स्कूल में मैट्रिक क्लास में पढ़ता था, गणित में वह बड़ा तेज़ था। मैट्रिक परीक्षा के बाद बांकुड़ा क्रिश्चियन कॉलेज में उसे विज्ञान पढ़ाया जाए, गुरुजनों की ऐसी इच्छा थी।

फागुन की ओस के पड़ने से गांव का इर्द-गिर्द बड़ा कोमल दिखाई पड़ता था। आम, जामुन और शीशम के पेड़ों पर से उड़ जाने के पहले, पंछी चहचहा रहा थे। सूर्योदय के समय मैं स्नान कर रहा था और उस समय भोर की एक कोयल भी कुएं के पास के नीमगाछ पर बैठकर मधुर स्वर में गा रही थी।

संध्या को विवाह होना था। हम लोगों की भाड़े पर चलने वाली लारी में शतरंजी और चादर बिछाकर बराती चले। भाड़े पर एक बस लाई गई थी, उसमें पिताजी के कुछेक घनिष्ठ मित्र बिठाए गए थे, ड्राइवर के पीछे गद्दीदार फर्स्ट क्लास में दूल्हे के वेश में मैं और मेरी बगल में शरत् था। पिता जी पीछे बैठे थे। रास्ते में फागुन की शाम की हवा कुछ तेज हो चली थी। उस समय मैंने एक लम्बी सांस ली। शरत् मेरे शरीर पर झुककर धीरे से बोला—"धीर धरो, धीर धरो, न उदास करो मुख, रजनी के आने पर रहेगा न फिर दुःख···।" शरत् जो थोड़ी-बहुत तुकबंदी करता था, उससे मैं उस समय अवगत नहीं था।

फागुन का शुक्ल पक्ष था। शाम को लग्न था। यथारीति अग्नि-साक्षी, शुभदृष्टि, होम आदि विधि-विधानों के बीच मेरा विवाह सम्पन्न हुआ। यह स्वीकार करने में मुझे कोई संकोच नहीं कि इस विवाह का मुश्किल से सोलहवां हिस्सा मैंने समझा और पन्द्रह हिस्से समझ में नहीं आया। चन्द्रा के विवाह में जो कुछ होते देखा था, प्रायः वही सब होने लगा। जिसने जो करने को कहा, अत्यन्त भक्ति-भाव से उसका पालन किया। इससे पहले दो-एक बार मुझे सामान्य-सा मलेरिया ज्वर हुआ था, ज्वर आने पर मेरी आंखें लाल हो जातीं शरीर के रोयें सींही के कांटों की तरह हो जाते। विवाह के समय मेरी दशा प्रायः वैसी ही हो गई थी। शुभदृष्टि के समय आस-पास

के तीव्र कलरव के बीच लाल-लाल आखों से मैंने एक बार ताका था। पता नहीं क्या देखा था, पल-भर के लिए स्कूल की सरस्वती-प्रतिमा की बात याद हो आई थी, पुष्पांजलि देने के समय जैसा विनीत हुआ जाता है हाथ की माला को वधू के गले में पहनाने के समय वैसा ही विनीत होने की मैंने बड़ी चेष्टा की थी। पता नहीं, मैं उसमें सफल हुआ था या नहीं। बदले में माला पहनाने के समय रजनी ने क्या किया था, मैंने देखा नहीं, मेरी आखें बंद थीं। किन्तु मुझे पूरा विश्वास है माला को किसी तरह मेरे गले में डालने के समय उसने मेरे कानों को छुआ था। जो भी हो, किन्तु रजनी उसे स्वीकार नहीं करती।

रजनी को साधारणतः 'बासर-घर' (जिस कमरे में दूल्हा-दुल्हिन विवाह की रात बिताते हैं) में ही मैं अच्छी तरह देख सका। बासर-घर स्त्रियों से भरा हुआ था, तकिया-बालिश, गुलाब पाश, फूल, हारमोनियम आदि वहां रखे हुए थे। छोटी-बड़ी उम्र की भिन्न-भिन्न आकार की स्त्रियों के कोलाहल से मेरी नाक में दम आ गया था। शरत् आदि भी वहां घुस-पड़े थे। उसने मेरा बचाव किया, दो-चार स्त्रियोचित प्रश्नों के उसने सुंदर जवाब भी दिए थे। शोर-गुल रात को कम होता गया। बाराती विदा हो गए।

थोड़ी और रात होने पर नलिनी दीदी बासर-घर में आकर बैठी। उनका गाना हुआ, हंसी-मज़ाक हुआ। नलिनी दीदी के उस गाने की थोड़ी-बहुत याद आज भी मुझे आती है :—"बंधु हे, आज आई हूं, आज आई हूं, आई हूं लेकर ये हंसी, रूप औ गान'''।" गाते-गाते जब वे मेरी ओर कौतुकपूर्ण कटाक्ष करती हुई गा रही थी—"सब आशा आज हृदय की, सब सुख औ सब प्रेम, तुम्हीं में हो जाएं अवसान—" तब अपनी सद्य-विवाहिता बालिका वधू के हृदय की

आशा, सुख, प्रेम आदि के संबंध में लेश-मात्र भी अनुमान करना मेरे लिए कठिन था। जो भी हो, गाने के बाद दिल्लगी शुरू हुई। अंत में नलिनी दीदी ने मुझसे कहा—"अब बोलो तो, भाई, हमारी चीनी कैसी मीठी है ?"

मैंने कोई जवाब नहीं दिया। लाज के मारे मुंह लाल हो गया। नलिनी दीदी छेड़-छाड़ करने लगी, रजनी अपनी हमजोलियों के साथ गप्प मार रही थी, हंस रही थी। मुझे कोई जवाब नहीं सूझा, बोला —"नहीं जानता।"

तब नलिनी दीदी हंसते-हंसते उठ पड़ी, जो बड़ी थीं उन्हें उठने को कहा और जाते-जाते मेरे कानों में फुसफुसाकर कह गई—"ज़रा सा नजरों से चखकर देखो, मिश्री है या मधु ? हाय राम, तुम कैसे लड़के हो जी ?"

बड़ी सब चली गईं, छोटी सब रह गईं। छोटी यानी रजनी की समवयस्क रिश्तेदार लड़कियां, और सोते हुए बच्चे। देखभाल के लिए दो युवती बधुएं भी वहां थीं। सच कहूं, इसी समय मैंने साहस करके अपनी वधू को देखा।

अपनी मां के विभिन्न अलंकारों को मैंने देखा है। उनके गहनों में एक तितली थी, मीना की हुई। रजनी भी ठीक उसी तितली की तरह रंग-बिरंगी दीख रही थी। साड़ी-ब्लाउज़ और गहनों से उसका सर्वांग ढका हुआ था। अनेक प्रकार के रंगों और चमक ने, जो मीनाकारी की तरह लगते थे, उसके छोटे-छोटे अवयवों को ढक रखा था। उसका मुखमंडल साधारणतः अब अच्छी तरह दीख पड़ता था, लम्बा चिकना-सा मुंह, बरफी जैसा चिबुक, वंशी जैसी नाक, छोटा कपाल, खोपे की बनावट ऐसी कि कपाल का बहुत बड़ा भाग और कान ढक गए थे। रजनी की दोनों आंखें अविकल कजरौटी

थी। फटी-फटी आंखों के भीतर उसकी कौतुकभरी चंचल दो पुतलियों को भी मैंने देखा। रजनी मेरी आखों में बस गई थी। रंग यदि थोड़ा मलिन न होता तो शायद वह और भी अच्छी लगती।

बच्चे सो गए थे, रजनी की सखिया मेरे संग पहेली- बुझौवल का खेल खेलते-खेलते ऊघने लगी। इस खेल में मैं निरा बुद्धू साबित हुआ। मेरे संग दुश्मनी करके रजनी अपनी सखियो को और कठिन से कठिन पहेलिया याद कराने लगी। ऐसी दुश्मनी में उसे काफी रस आ रहा था। अंत में उसकी सखिया एक-एक करके सो गईं। वे दोनों युवती वधुएं भी सो गईं। रजनी भी न जाने कब घूघट उघार करके, घुटनों को पेट के पास सटाकर, शिशु की तरह सो गई।

मुझे जंभाई आ रही थी। खिड़की के बाहर धुली चांदनी छिटकी हुई थी। वह चांदनी मानो मेरे मुंह के सामने अविरल हंस रही थी। हंसी देखते-देखते मैं भी न जाने कब सो गया।

तीन

पुत्र के विवाह में पिता जी ने कम धूम-धाम नहीं की। शहनाई बजवाई थी, मिठाइयां बनवाई थी। सारी व्यवस्थाएं चन्द्रा के विवाह के अनुरूप ही थी। गाव के घर-घर में तो निमंत्रण-पत्र गया ही था, पिताजी ने मेरे स्कूल के शिक्षकों को भी निमंत्रण दे दिया था। मेरे विवाह के अवसर पर शिक्षकों को थोड़ा आनन्द-लाभ हुआ तो था, किन्तु इससे वे विस्मित नहीं हुए थे। कारण उन दिनों ऐसा विवाह उस अंचल में अभूतपूर्व नहीं था। मेरे कुछ सहपाठी मित्र आए थे, वे

चुपके से मुझसे ऐसे-ऐसे प्रश्न पूछने लगे, जिनका उत्तर मुझे मालूम नहीं था। उन्होंने हंसी-मज़ाक किया, मुझे मुक्के मारे। मौका पाते ही शरत् ने मेरे गले से लिपटकर दो-एक परामर्श दिए।

सुहाग-रात में रजनी को नई तरह से देखा। चन्द्रा अपनी भाभी का हाथ थामे हुए कमरे में आई और पहुंचाकर चली गई। दो ही दिनों में उन दोनों के बीच जो घनिष्ठता उत्पन्न हो गई थी, यह बात मुझे मालूम थी। विवाहिता होने के कारण इन्हीं कुछ दिनों में चन्द्रा में बालिग हो जाने की मर्यादा का बोध हो गया था, विशेषकर भाई के विवाह में अपनी पद-मर्यादा और नवलब्ध गौरव को वह बड़े विलक्षण ढंग से प्रकट कर रही थी।

वे दोनों जब आईं, तभी अच्छी तरह पता चल गया था कि उन दोनों में किसी तरह का हंसी-मज़ाक चल रहा था, कम से कम उसके परोक्ष-चिह्न तो विद्यमान थे ही, भले ही उसका प्रत्यक्ष लक्षण दीख नहीं पड़ता था। बनाव-सिंगार से दोनों को ही यथासंभव बालिग बनाने की चेष्टा की गई थी, किन्तु शरीर और आचरण से वैसा प्रतीत नहीं होता था। भले ही उनका बचपना नहीं छिप सका था, फिर भी दोनों बड़ी सुन्दर दीखती थीं। (सुना है, असमय का फल सदा ही अधिकतर सुस्वादु और मधुर होता है।) चन्द्रा ने न जाने धीरे से क्या-क्या कहा, पत्थर के गोल टेबल पर रखे पीने के पानी को दिखा दिया और उसके बाद हंसती हुई वह कमरे से चली गई। उसके बाहर होने पर मैंने दरवाज़ा बन्द होने की आवाज़ सुनी।

वसंत ऋतु होने पर भी सुहागरात के लिए शय्या पर फूलों की वैसी कोई अधिकता नहीं थी। अपने घर के बागान के कुछ फूल थे, कुछ बेला की कलियां थीं और बेला की दो मालाएं भी थीं। मानो मृदु गन्ध शय्या पर विराजमान थी। सोलह वर्ष का विवाहित किशोर

अपनी नवपरिणीता बालिका वधू को देख रहा था, कभी लजाते हुए और कभी साहस के साथ।

रजनी बड़ी ही सुन्दर दीख रही थी। पहनावे में लाल-किरमई धारीदार साड़ी, ब्लाउज, थोड़ा बड़ा-बड़ा-सा आधे माथे-भर घूंघट, और अलकारों से भरा हुआ हाथ। उसके शरीर की तुलना में सभी कुछ बड़े-बड़े थे, तथापि उस बालिका के वधू-रूप में कोई त्रुटि नहीं थी।

चन्द्रा के चले जाने पर रजनी थोड़ी देर दरवाजे की ओर निहारती हुई खड़ी रही। मैं कमरे में हूं या नहीं, इस ओर उसका ध्यान ही नहीं रहा। उस समय मेरी छाती वेग से धड़कने लगी, हृत्पिंड मानो जोर-जोर से उछलने लगा था।

रजनी ने आगे बढ़कर आवाज के साथ दरवाजे की अर्गला चढ़ा दी। उस समय तक मेरे दोनों कान जाग हो गए थे, आंखें कसमसाने लगी थीं।"'रजनी का रंग-ढंग कुछ और तरह का था। वह दरवाजे से और सटकर और कान लगाकर खड़ी रही, मुंह पर कौतुकपूर्ण उत्तेजना और हंसी थी।

कमरे में एक चीनी टेबल-लैम्प जल रहा था। दोमंजिला मकान था। पूरब-दक्खिन दिशा की खिड़कियां खुली थीं, बाहर आम-गाछ के पत्ते चांदनी से नहा रहे थे और हवा में पत्तों का मरमर स्वर गूंज रहा था।

थोड़ा-सा समय ही जैसे कितना लम्बा-सा लगा। देखा, रजनी बड़ी सावधानी से अर्गला खोलने की चेष्टा कर रही थी, जिससे उस के खुलने की आवाज न हो, किन्तु उससे खुल नहीं रहा था। उस कमरे की अर्गला बड़ी सख्त थी, जोर और धक्का लगाए बिना उसे खोला नहीं जा सकता था। थोड़ी चेष्टा करने के बाद रजनी ने आंखों के

इशारे से मुझे नज़दीक वुलाया। दवे-पांवों मैं उसके निकट गया। रजनी कुछ वोली नहीं, हाथ और मुंह के इशारे से उसने समझा दिया कि सावधानी से आवाज़ किये विना मुझे अर्गला खोल देनी होगी। मैं कुछ पूछने ही वाला था कि रजनी ने अपने होंठों पर उंगली रख-कर मुझे चुप रहने को कहा।

रजनी के निर्देश के अनुसार ही मैंने अर्गला खोल दी। फिर आंखों के इशारे से उसने मुझे एक ओर हट जाने को कहा। उसकी वात मानकर मैं एक ओर हो गया। रजनी के अचानक दरवाज़ा खोल देने पर शरत् वुत की तरह अडिग खड़ा दीख पड़ा, चन्द्रा दौड़कर भागी जा रही थी कि वरामदे में फिसलकर ज़ोर से गिर पड़ी।

हंसी की खिलखिलाहट और हो-हो की आवाज़ गूंजी, जैसे और भी कुछ लोग कहीं छिपे हुए थे, वे सब अन्तर्धान हो गए।

पकड़े जाने पर चोर की तरह शरत् वोला—"मैं कुछ नहीं जानता, उन लोगों ने मुझे यहां खड़ा रहने को कहा था।"

जीभ निकालकर मुंह चिढ़ाती हुई रजनी ने कहा—"आहा, दूध के धुले···।"

मोती दीदी ने आकर शरत् को पुकारा—"ऐ जमाई, सोने जाओ, पता है, रात कितनी हो गई है···।"

शरत् सुवोध वालक की तरह चुपचाप चला गया।

कमरे का दरवाज़ा इस वार मैंने ही वन्द किया। रजनी उस समय भी हंसती ही जा रही थी, मानो उस समय वह हंसी की खुमारी में डूवी हुई थी। चोर पकड़ने के खेल में उसे वड़ा मज़ा आया था।

थोड़ी चैन आने पर मुझे प्यास मालूम पड़ी थी। मैंने पानी पिया।

रजनी ने अपने घूंघट को पूरी तरह से खोल दिया। उसके वाल वड़े घने थे, तो भी इतना वड़ा खोपा होना संभव नहीं था, किसी तरह

कारीगरी से बड़ा-सा खोपा बांधा गया था, उसमें सोने की कंघी और चांदी के कांटे लगाए गए थे। रजनी के गोरे-गोरे गले में मटर-माला बड़ी फब रही थी। उसके गोरे कंधों पर उस हार का 'ऐस' चमक रहा था।

पत्थर के टेबल के निकट रजनी ने भी गट-गट करके एक गिलास पानी पिया; उसके बाद वह पानदान से दो बीड़ा पान निकाल, मुंह में भरकर चबाने लगी। देखते ही देखते उसके होंठ लाल हो गये। पान के दोनों बीड़े रजनी के मुंह की तुलना में बड़े थे, इसमें सन्देह नहीं। गाल-भरी पान की पीक उसके पतले-पतले होंठों से चूकर ठुड्डी तक आ गई थी। मैं मुग्ध नेत्रों से अपनी बालिका वधू के चिबुक पर उन लाल-लाल बूंदों को देख रहा था।

बिछावन पर बैठकर रजनी ने आंचल को शरीर से दूर हटाया, मानो सम्भव होता तो इस बोझ को उतारकर वह हल्की हो जाती। खाट के किनारे बैठकर अपने पांवों को उसने लटका दिया, और उन्हें झुलाते-झुलाते वह कभी मेरी ओर देखती, कभी मुंह फेर लेती। उसके पांवों में चांदी का बिछुए थे, जितना ही वह पांवों को झुलाती उतना ही बिछुओं के छोटे-छोटे दाने झनझना उठते।

कई बार और ताकने के बाद रजनी खीसें निपोरने लगी। उसे हंसता हुआ देखकर मैं भी हंसा। इस हंसी के द्वारा ही हम दोनों की पहली जान-पहचान हो गई।

बाहर तेज हवा का एक झोंका आया था। खुली खिड़की के पल्लों से आवाज हुई। आवाज के साथ एक पल्ला बंद हो गया, बाहर के आमगाछ के पत्तों से मरमर-सरसर का स्वर गूंजा।

रजनी ने खिड़की की ओर देखकर जल्दी से मुंह फेर लिया। "कैसी आवाज है?"

"गाछ की।"

"किस गाछ की?"

"आमगाछ की।"

"कचम्मी है?"

"कच्चे में खट्टा और पकने पर मीठा होता है।"

रजनी को प्रसन्नता नहीं हुई। मुंह पर संदेह का भाव लाकर वोली—"मुझे विश्वास नहीं होता..."

थोड़ी देर चुप्पी रही। हवा से वंद हुए खिड़की के पल्ले को मैं खोलने गया। वाहर उत्पात मचाती हवा और खिली हुई चांदनी थी। चांद की किरणों से अपने पत्तों को भिगोकर आमगाछ मानो हिल-डुल कर अपने सिर को नचा रहा था।

मेरे वापस आते ही रजनी को जैसे सहसा कुछ याद आया। 'आ ऽ ऽ ऽइ!' कहकर और अपनी एकदम लाल जीभ को निकालकर उसने उसे अपने दांतों के वीच दवा लिया। दूसरे ही क्षण देखा, वह चट से विछावन से नीचे उतरी। मैं हड़वड़ाकर खड़ा हो गया। अपनी पायल झनझनाती हुई वह मेरे सामने आई। उसके वाद मेरे सामने घुटनों के वल वैठकर उसने झट मुझे प्रणाम किया। मैं विमूढ़ होकर खड़ा रहा। वह उठ खड़ी हुई। वोली—"मां ने कहा था, दूल्हे को परनाम करना, दीदी ने भी कहा था। मैं तो भूल ही गई थी।"

दूल्हा शब्द मेरे कानों को वड़ा मधुर लगा, वह मेरे मर्म में प्रवेश करने लगा था। शायद उसी भावावेश में मैंने अपनी दोनों आंखें वंद कर ली थीं। किन्तु रजनी ही-ही करके हंस उठी। मैंने नज़र उठाकर देखा, वह आंचल से मुंह छिपा रही थी। समझ नहीं सका, इसमें हंसने की कौन-सी वात थी। लगा, शायद मेरे आंखों के वंद करने के ढंग और मुंह के हाव-भाव ने उसे हंसाया हो। मैं खिन्न हो गया।

अंत में उंगली के इशारे से रजनी ने हंसी के कारण की ओर इशारा किया। देखा तो मेरी धोती के एक किनारे में थोड़ा-सा सिंदूर लगा हुआ था। उसके प्रणाम करने अथवा उसके उठने के समय उसकी मांग का सिंदूर लग जाने ऐसा हुआ था। मैंने उसे हाथ से मिटाने की चेष्टा की, हाथ लाल हो गया, धोती और भी लाल हो गई, और उसे और मज़ा आया, वह और हंसी। शायद मैं कुछ लज्जित हुआ था, किन्तु पता नहीं, क्या कारण था जिससे मैं रोमांचित हुए बिना नहीं रहा। हंसी रुकने पर रजनी बिछावन के पास गई। खेल-खेल में कुछ फूलों को उठाकर उसने ओका-ओकी खेल खेला, जैसा खेल लड़कियां इमली के बीजों को लेकर खेलती हैं। उसके बाद उसने खोंपे में कुछ फूल खोंसने की चेष्टा की।

खिड़की के बाहर एक नींद-जगा कौआ बोल उठा। रजनी एक लम्बी-सी जंभाई लेकर बोली—"कौआ बोलता है। रात को कौए का बोलना बुरा है।" और बड़बड़ाकर कोई एक मंत्र पढ़कर उसने इस अपशकुन को निरस्त कर दिया।

मैंने कहा—"धुली चांदनी के छिटकने पर कौए बोलते हैं, सोचते हैं, भोर हो रही है।"

रजनी को चांदनी देखने की साध हुई, किन्तु खिड़की की ओर जाने का साहस नहीं हुआ। बड़ी-बड़ी खुली हुई खिड़की, बाहर जामुन गाछ में हवा की सरसराहट और चारों ओर निस्तब्धता छा रही थी, मानो सब-कोई धीरे-धीरे सोने जा रहे थे। साहस के अभाव में रजनी ने कई बार खिड़की की ओर ताका, किन्तु कदम नहीं बढ़ाया।

वधू का मनोभाव समझने में मुझे देर नहीं लगी। मैं खिड़की के नज़दीक जाकर खड़ा हो गया, रजनी भी कदम बढ़ाती हुई मेरे पास आ गई।

हम लोगों के ऊंची दीवालों से घिरे हुए घर के अहाते के उस पार इमली के पेड़, छोटी-छोटी झाड़ियां, ऊंचे-नीचे रास्ते और मैदान तथा बहुत दूर पर रेल लाइन है।

फागुन की सरसराती हुई दक्खिनी हवा और छिटकी हुई सुंदर धुली चांदनी में मेरी बालिका वधू के मन में भावना जागी। बोली—"कैसी चमचम करती हुई चांदनी है !"

मैं हंस पड़ा। बोला—"चमचम करती हुई चांदनी क्या होती है ?"

रजनी अवाक् हो गई। हाय राम ! यह आदमी चमचम करती हुई चांदनी नहीं समझता है। कजलौटी की तरह अपनी दोनों आंखों को विस्फारित करके वह बोली—"चमचम करना नहीं जानते हो ?

"जानता हूं। चमचम खाते हैं।"

मेरी नासमझी इतनी बेहूदा थी कि उस विषय में दूसरी कोई बात कहने का मन रजनी का नहीं हुआ। बेज़ार-सी होकर रजनी बोली—"पेटू देवता ! सिर्फ मिठाई पहचानते हैं···।"

"मैं मिठाई वगैरा नहीं खाता।"

"हूं, कहते हैं, खाता नहीं।···गपागप खाते देखा है।"

"कहां ?"

"अपने मायके में; यहां भी—तुम्हारे घर में।"

"वह तो ब्याह था इसलिए···फिर सभी ने खाने को कहा था।"

रजनी ने सिर हिलाते हुए बड़े कौतुकपूर्ण ढंग से, रस लेकर, मेरे अंतिम वाक्य को दुहराया।

उसके बाद शरारत-भरी हंसी हंसकर बोली—"वाह रे लड्डू-गोपाल, खाने को कहने पर खाता है, नहीं कहने पर आचमन करता है।" कहने के बाद मज़ाक में उसने अपने होठों को ऐसा सिकोड़

लिया कि मैं उसे अपलक देखने लगा।

जाने क्या याद आने पर रजनी बोली—"तुमने कभी कन-उमेठन खाई है?"

"क्या?"

"कन-उमेठन।"

"धत्।"

"रेणु दीदी ने तुम्हें नहीं खिलाई है! मेरे सामने तो बैठकर खाई है।"

"इतनी सस्ती है!..."

"हाय राम, यह कैसी है रे!" रजनी ने अपनी दोनों आंखों को विस्फारित करके गाल पर हाथ रखा और कहा—"ब्याह के दूसरे दिन सवेरे मेरे सामने बैठकर क्या खाया था?"

घटना याद आई। रजनी की कोई रिश्तेदार खूब गुप्तरूप से मेरे कानों में कुछ कहने की चेष्टा कर रही थीं, स्वभावतः उन्होंने मेरे कानों में कई बार हाथ और मुंह लगाया था, पर वास्तव में कहा कुछ नहीं था। मैं समझा, उनका वह गुप्तरूप से कुछ बोलने का यत्न शायद एक मजाक था। उस बात की परवाह न करके उल्टे रजनी को नीचा दिखाने लिए मैंने एक चाल चली! कहा—"तुमने मेरे कान पकड़े थे।"

"धत्।"

"पकड़े थे! माला पहराने के समय।"

"हाय राम! कैसे झूठे हो। छी-छी—" रजनी जैसे लाज से मर गई। ज़ोर से सिर हिलाकर उसने इसे नकारा—

"भला मैं कैसे पकड़ सकती हूं। मेरे हाथ वहां तक पहुंच ही नहीं सकते। तुम कितने लम्बे हो!"

रजनी की भीत मुद्रा और भक्ति-भावना देखकर मैं हंस पड़ा।

इधर-उधर की दो-चार निरर्थक बातों के बाद रजनी ने पूछा—"तुम्हारा स्कूल कितनी दूर है?"

"चार मील।"

"पैदल जाते हो?"

"पैदल क्यों जाऊंगा, साइकिल है।"

"तुम सेकंड क्लास में पढ़ते हो?"

"अगले वर्ष फर्स्ट में जाऊंगा, उसके बाद मैट्रिक परीक्षा दूंगा।"

"कितनी बार में पास करोगे?"

"कितनी बार में…!"

"मधु भैया चौथी बार में पास हुए थे।"

"धत्…। गधे तीन बार में पास करते हैं।"

"हाय राम! कैसे गंवार हो!"

रजनी की भर्त्सना का कारण मैं समझ नहीं सका।

रजनी ने कहा—"गुरुजन को गधा कहा! आचार नहीं जानते!"

"सचमुच ही भूल हो गई।" मैंने जीभ काटी और कहा—"यों ही ज़बान फिसल गई। मेरी ज़बान बहुत जल्दी फिसल जाती है। लेकिन मैं एक ही बार में पास करूंगा।"

"गिरते-पड़ते करोगे?" रजनी हंसने लगी।

रजनी को फिर जंभाई आई। उसकी देखादेखी मुझे भी आई। जंभाई की छूत बड़ी जल्दी प्रभाव दिखाती है।

"तुम किस्सा-कहानी जानते हो?" रजनी ने उल्टी हथेली से आंखें मीचीं।

"किस्सा! कैसा किस्सा!"

"क्या पता!…भूत का किस्सा मैं नहीं सुनूंगी। राक्षस-वाक्षस

का भी नहीं।" कहकर रजनी ने मेरी ओर ताका, उसे संदेह हुआ—वह जो कुछ कह रही है मैं उसे समझ नहीं रहा हूं। नाक सिकोड़कर उसने कहा—"कैसा लडका है रे।…ब्याह किया है, लेकिन—।"

वापस आकर हम लोग बिछावन पर बैठे। कुछ ही देर बाद तकिए पर सिर रखकर रजनी चित होकर लेट गई। साड़ी के लम्बे आंचल से वह बहुत परेशान थी, इसलिए उसकी पोटली बनाकर उस आंचल को उसने एक ओर हटा दिया। फिर थोड़ी देर बाद ही उसने पूछा—

"तुम्हारे सिर में दर्द है?"

"नहीं। सिर में क्यों दर्द होगा!"

"पूछना चाहिए, दीदी ने कहा था, 'दूल्हे को पूछना; सिर में दर्द है या नहीं' यदि कहे—है, तो धीरे-धीरे सिर दबा देना।"

मैं हंस पड़ा, रजनी मानो अप्रतिभ हो गई।

"क्यों हंसता है रे—।" रजनी ने होंठ उलटकर कहा।

"हंसी की बात सुनने पर हंसूगा नहीं!"

"भूत है।"

"कौन, मैं?"

"मेरी बगल में।" कहते-कहते हठात् जैसे उसे कुछ याद हो आया, उसने मेरी आंखों में आंखें डाली—"अच्छा, एक पहेली बूझो तो जानूं!

गोरा-गोरा चेहरा
बाबू साहब छरहरा
हवा लगे तो उड़ जाय
पानी में वह घुल जाय।"

हवा में उड़नेवाली और पानी में घुलनेवाली, गोरे-गोरे चेहरे की चीज

क्या हो सकती है, मैंने इसका अनुमान करने की चेष्टा की, किन्तु 'बाबू साहब' शब्द सब गड़बड़ कर देता था। जो मैंने अनुमान लगाया, उसे प्रकट नहीं किया। बहुत सिर खपाकर भी हताश ही हुआ, बोला—"क्या पता !"

"ए राम, इतना सरल है एकदम पानी-जैसा; तो भी नहीं बता सकता है।"

"नहीं, तुम्हीं बताओ।"

"तुम यह (ठेंगा) पास करोगे !" मेरे पास-फेल के बारे में निश्चित होकर रजनी ने एक लम्बी सांस ली। उसके बाद बोली—"अच्छा, थोड़ा-सा आभास देती हूं। वह चीज़ इसी कमरे में है।" रजनी आभास देकर कौतूहलपूर्वक मेरे उत्तर की आशा में प्रतीक्षा करने लगी।

"इसी कमरे में है—?" मैंने कमरे में चारों ओर नजर दौड़ाई।

"तुम्हारे पा—" कहते-कहते रजनी ने किसी तरह मुंह पर लगाम लगाई, जैसे ज़रा-सा और कह देती तो सब मिट्टी में मिल जाता।

मैंने सिर खुजलाया— "कहां है ?"

"सब-कुछ बता दूं ?"

"खिड़की पर है ?"

"नहीं।"

"टेबल पर है !"

"नहीं।"

"तब कहां है ?"

"आंखें होंगी तो देख सकोगे।" अपने दोनों होठों को दबाकर तथा भीतर की ओर भींचकर वह शहतीर की ओर ताकती रही।

उसके सरल-सुन्दर मुंह की ओर मैं मुग्ध दृष्टि से निहारता रहा। उसके कपाल पर चन्दन की बिंदी थी, ओस की बूंद जैसी लवंग-बिंदियों में से कुछ मिल गई थीं, आंखों में काजल, ठुड्डी पर पान की पीक का वही थोड़ा-सा लाल दाग और गले में अनार के दाने जैसा एक तिल था। उसकी पतली-सी मांग सिंदूर की अधिकता के कारण आधे माथे तक लाल थी। स्वीकार करने में बुराई नहीं कि उस समय अपने बहनोई शरत् की शिक्षा और निर्देश मेरे कानों में बजने लगे और कुछ शरारत करने को प्रेरित करने लगे।

मैंने कहा—"देख लिया है।"

"क्या?" शहतीर से नजर हटाकर उसने मेरी ओर देखा।

"बता दूं?"

"बताओ।"

"चीनी।"

पल-भर के लिए रजनी नीरव रही। दूसरे ही क्षण उसका मुख-मंडल लाज और कौतुक हंसी से भर उठा। जीभ निकालकर मुंह चिढ़ाते हुए उसने कहा—"देशी या मशीनी चीनी?"

"मेरी चीनी।"

शरत् की बताई गई मुख-चुम्बन की शिक्षा का मैंने अनाड़ी की भांति प्रयोग किया। चीनी यानी रजनी उस समय कुछ नहीं बोली। उसके बाद लाज-भरी नजरों से उसने मेरी पलकों पर प्रतिदान-स्वरूप चुम्बन जड़ दिए।

दमकती चांदनी की तरह मेरी सभी इन्द्रियों में एक प्रकार की दमक हुई। तब तक पोटली से बनाए हुए आंचल से उसने अपना मुंह ढक लिया था।

चार

नींद टूट गई। नींद की खुमारी में पहले मैं समझ नहीं सका, दूसरे ही क्षण समझ गया था कि नई शय्या पर नववधू की बगल में मैं सोया हुआ था। रोमांचकारी आनन्द और बालिग हो जाने का गौरव अनुभव करते हुए मैंने आंखें खोलीं। भोर तो हो गई थी, किन्तु तब तक सुबह का धुंधलका छंटा नहीं था। बाहर बारी-बारी से जाग-जाग कर कौओं ने कांव-कांव करना शुरू कर दिया था। सुबह की ठंडी हवा से सिहरन हो रही थी। सिर घुमाकर रजनी को खोजने की चेष्टा करने पर देखा—तकिया खाली पड़ा था। क्या रजनी उठ कर चली गई? सिर जरा-सा ऊंचा करते ही दिखाई पड़ा, नींद की खुमारी में मेरी बालिका वधू घड़ी के कांटे की तरह घूम गई थी। बड़ा-सा पलंग था, उसे कोई असुविधा नहीं हुई। घूमते-घूमते अपने सिर को मेरे पांवों की तरफ तिरछा कर और घुटनों को मोड़कर वह ऐसा सोई थी कि उसके दोनों पांव मेरी छाती के पास आ गए थे। इस प्रकार वह बड़ी निश्चिन्त होकर सो रही थी। संभवतः भोर में ठंड लगने पर उसने आंचल को ही चादर बनाकर माथा ढक लिया था।

रजनी के महावर-रचे दोनों पांव कितने छोटे और तलवे कितने पतले थे, मैं यह देख रहा था। बासी लेकिन फीकी गंध नाक को महसूस हुई। माथा और जरा-सा झुकाते ही समझा, वह गंध सुगंधित महावर की, साड़ी और बिछावन पर छिड़के हुए इत्र की थी।

• रजनी के तलवे में गुदगुदी करके उसे जगाने की मेरी बरबस इच्छा हुई। हाथ की गुदगुदी वैसी काम की नहीं होगी, यह सोचकर बिछावन से एक बासी फूल उठाकर मैं उसके तलवे गुदगुदाने लगा। देखा, उसकी नींद बड़ी गहरी थी। फूल से काम न होने पर हाथ की उंगली से कई बार गुदगुदी की तो उसने अपने दोनों पांव खींच लिये। मुझे और मज़ा आया, मैं फिर गुदगुदाने लगा। वह पाव मोडती, शरीर समेटती और करवटें बदलती हुई पड़ी रही और मैं गुदगुदाता रहा। आखिर उसके रोम-कूपों में रोमाच उत्पन्न हो गया और वह तड़फड़ाकर बिछावन पर उठ बैठी। हठात् नींद टूट जाने से उसके मुंह पर थोड़ी-सी विमूढ़ता, ज़रा-सा विस्मय और थोडी-सी विरक्ति छा गई थी। मैं हस रहा था। कुछ ही देर बाद जैसे उसे होश हो आया। खिड़की, कमरे, बिछावन और अपने षोडशवर्षीय पति को देखकर वह मानो कुछ आश्वस्त हुई। दोनों हाथों से पलकों को रगड़-कर उसने नींद की खुमारी दूर करने का यत्न किया, जभाई ली और चट से दोनों हाथ जोड़कर एक बार ईश्वर को प्रणाम किया।

"मेरे पावों को तुम गुदगुदा रहे थे?" नींद से जागने के बाद रजनी ने पहला वाक्य यही कहा।

"कहा? नहीं तो!"

"बासी-मुंह झूठ बोलते हो!" रजनी सिहर उठी।

"तुम मेरे सिर की ओर पांव करके क्यो सो रही थी?"

पहले मानो उसे विश्वास नहीं हुआ, बाद में उसने कहा—"सच-मुच!" कहकर ही अपने बैठने की जगह और बिछावन की दशा देख कर, उसने बड़ी ही अप्रतिभ होकर अपनी नाक सिकोड़ ली—"हाय राम, छी-छी! मेरे पांव टूट जाएगे। अरे, तुम्हारे शरीर से मेरे पाव छू गए थे?"

"नहीं-नहीं।" हंसते-हंसते मैंने सिर हिलाया। नींद की खुमारी में मेरी बालिका वधू ने मेरे शरीर से अपने दोनों पांव नहीं छुलाए थे, ऐसा मैं नहीं कह सकता, तथापि उदारतावश मैंने नकारा।

रजनी ने कहा—"मेरे सोने का ढंग बहुत बुरा है। मां, फूफी, दीदी सभी डांटती थीं। सभी ने कितना कहा था—अच्छी तरह लेटना, सीधा होकर सोना। दूल्हे के शरीर से पांव मत छुलाना।" कहते-कहते वह अपने अपराध के लिए क्षुब्ध तथा गंभीर हो गई। "अपने दोनों पांवों को बिछावन से उतारो तो। प्रणाम कर लूं।"

"धत्...प्रणाम !"

"नहीं, मुझे पाप लगेगा। तुमने मेरे पांवों में हाथ क्यों लगाया था ?"

रजनी पलंग से उतर पड़ी, उसके पाप का बोझ जैसे प्रत्येक पल भारी हो रहा था। झूठ नहीं बोलूंगा, इस घटना से कितना ही मजा क्यों न आया हो, किन्तु इससे मैं अपने पद-गौरव की मर्यादा का बोध कर रहा था।

बाहर का धुंधलका बहुत जल्दी-जल्दी छंट रहा था, मानो उषा जाग रही थी। कमरे में चारों ओर उजाला होता जा रहा था। बहुत से कौए जागकर एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर आते-जाते कांव-कांव कर रहे थे। दूर की रेल लाइन से होकर भोर की मेल ट्रेन निस्तब्ध, शांत मैदान और घाट-बाट को इंजिन-रूपी वंशी से जगाती हुई और उनके बदन को हिलाती हुई चली गई।

रजनी से देर सही नहीं जाती थी। उसने मेरे दोनों पांवों को प्रायः खींचकर प्रणाम कर लिया और कहा—"सुनो, एक बात कहूंगी, कसम खाओ।"

"कैसी कसम ?"

"तुम यह बात किसी को नहीं कहोगे।"

"कौन-सी बात ?"

"उफ, कुछ भी नहीं समझते।" मुंह भारी करके उसने कहा—"तुम्हारे सिर की ओर मेरे पांव हो गए थे, यह किसी को भी कभी नही कहोगे। ऐसी बात कही नही जाती।"

"कहने से क्या होगा ?"

"तुम कह दोगे ?"

"नही, मैं कहूंगा नही। लेकिन कहने से क्या होगा, यह पूछ रहा हूं।"

वह मेरी ओर विस्मित होकर निहारती रही, मानो वह समझ नहीं पा रही थी कि मुझमे इतनी-सी भी समझ क्यो नही है। बोली—"लोग सुनेंगे तो मुझे गवार कहेंगे। मेरे मां-बाप और गुरुजनों की निन्दा करेंगे। कहेंगे, लड़की को उठना-बैठना नही सिखाया गया है। ससुराल में निन्दा होने से बड़ा बुरा होता है।"

मायके से वह बहुत-कुछ सीखकर आई थी, यह समझना मेरे लिए कठिन नहीं था। देखा था, चन्द्रा के विवाह की बात पक्की होते ही मां उसे पग-पग पर सिखाया करती थी। एक दिन चन्द्रा ने अकेले में मुझे कहा था—"यह नही करना, वह नही करना—बाप रे बाप, जब कुछ भी नहीं करूंगी तो फिर ब्याह ही क्यों करूगी ! अच्छा भैया, बोलो तो, ससुराल है या पाठशाला ?"

उस बात की याद आने पर मुझे अब हंसी आने लगी। रजनी को अभय देने का कर्त्तव्य-बोध जैसे मुझमें जाग उठा। मैंने कहा—"तुम्हारी निन्दा कोई नही करेगा।"

"मुझे विश्वास नहीं होता।"

"देखता हूं, मां तुम्हें खूब प्यार करती हैं।"

"पिता जी भी। उन्होंने कहा है कि मुझे शुक्रवार को तुम्हारे संग रानीगंज आना है। मैं अभी लौटूंगी नहीं।"

यह सुनकर आनन्दित होने की बात नहीं थी। पता नहीं, कहां से सवेरे ही सवेरे मन में कहीं एक कांटा-सा चुभा कि चुभन-सी होने लगी और मुंह उदास हो गया। बोला—'तुम अकेली जाना, मैं नहीं जाऊंगा।"

"धत्! नहीं जाओगे! जाना चाहिए…जानते हो! ब्याह के बाद ससुराल से पहली बार मायके जाने में लड़की को अपने पति के साथ जाना चाहिए—दुकेली।"

'अकेला-दुकेला मैं नहीं जानता।" जानकर भी अनजान बनने की झोंक में मैंने सिर हिलाया। "तुम अपने मां-बाप और फूफी के पास जाओगी तो जाओगी। रहोगी तो रहोगी। मुझे क्या!"

"क्या मुझे खुशी हो रही है।"

"तुम…तुम…तुम एक नम्बर की 'सेल्फिश जॉयंट' हो।"

"क्या?"

'सेल्फिश जॉयंट' शब्द मुंह से निकल गया था। सेकंड क्लास में पहुंचने के ठीक बाद ही 'सेल्फिश जॉयंट' कहानी हम लोगों को पढ़ाई गई थी। उस कहानी से हम लोग इतने अधिक अभिभूत और मुग्ध हुए थे कि आपस में जब किसी की स्वार्थपरता को देखकर उसे घोर स्वार्थी बताना होता था तो उसके लिए हम लोग 'सेल्फिश जॉयंट' शब्द का व्यवहार करते थे। यह शब्द हम लोगों के बीच खूब अधिक प्रचलित था। रजनी इसे समझेगी नहीं, इसका खयाल नहीं किया था। यद्यपि घर पर रहकर वह बंगला, अंगरेजी और अंकगणित पढ़ती थी,

---

१. स्वार्थी साधिन

तथापि इस शब्द-विशेष का उसकी समझ से परे होना ही स्वाभाविक था।

थोड़ी-सी प्रतीक्षा करके वह बोली—"कहो न, क्या कहा ?"

कहूंगा नहीं, यह सोचते-सोचते आखिर मैं कह उठा—"तुम एक नम्बर की स्वार्थी हो।"

देखा, स्वार्थपरता के इस कलक से रजनी को न दुःख हुआ, न क्रोध। बिना किसी विरोध के मानो उसने इस दोषारोप को स्वीकार कर लिया।

तब तक कमरे के भीतर उजाला हो चुका था। सूर्य के निकलने का उपक्रम हो रहा था, आकाश सिंदूरी हो उठा था।

रात-भर के बिखरे हुए बालों और कपड़ों को रजनी सवारने लगी। शरीर पर की साड़ी में तह का नाम की कोई चीज रह ही नहीं गई थी। आंचल का छोर पोंछनी-जैसा हो गया था, सिर के बाल बिखरकर इधर-उधर हो गए थे, कपाल पर पतली-पतली लटें आकर जैसे उझक-उझक उसके मुंह को देखना चाहती थीं और सिंदूर की लाली बहुत अधिक बिखर गई थी।

मैंने कहा—"रानीगंज आकर तुम मेरी चर्चा किसी से न करना।"

अपने पैरों के पास की साड़ी के छोर को खींच, और पीठ सीधी करके वह उठ खड़ी हुई। मेरी ओर ताककर बेझिझक उसने कहा—"आहा, चर्चा करने में जैसे मुझे लाज नहीं लगेगी !"

तभी कमरे के दरवाजे पर दस्तक पड़ी। दरवाजे की ओर देखकर उसने धीरे से कहा—"चन्द्रा है"'। तुम लेटे रहो, जैसे सो रहे हो। मैं जाती हूं।"

सुबह के उजाले में दरवाजा खोलकर वह चली गई।

पांच

वीच के दो दिन हवा के दो झोंको-जैसे थे जो आते-आते ही खत्म हो गए। अच्छी तरह स्पर्श-सुख भी नहीं मिला। उस थोड़े-से समय में ही रजनी के प्रति मेरे किशोर-चित्त में थोड़ी-वहुत माया हो गई थी। उसकी अनुपस्थिति मेरे लिए सुखकर नहीं होगी, इसका अनुभव करके मैंने कई वार आहें भरने में भी कृपणता नहीं की, किन्तु ऐसा नहीं लगा कि वह मेरे दुःख से दुःखी हुई। मायके जाने के लिए वह इतनी अधीर और चंचल हो उठी थी कि मेरी उदासी पर उसकी नज़र ही नहीं पड़ी।

निर्धारित दिन मैं उसे साथ लेकर अपनी ससुराल की ओर चल पड़ा। संग में मनोहर काका भी थे। पिता जी ने हम लोगों के लिए एक मोटर गाड़ी ठीक कर रखी थी, किन्तु ठीक जाने के समय उसकी कल खराव हो गई। दुनिया में वहुत-सी कलें ऐसी विगड़ जाती हैं कि उनकी मरम्मत सहज ही नहीं होती। मेरी दुष्ट वुद्धि कहती थी कि उस गाड़ी की कल अभी विगड़ी ही रहे। रजनी मुंह-उजाले ही उठकर तैयार होने लगी थी। उसके जाने की सारी तैयारी पूरी हो चुकी थी, तो भी उसका धैर्य छूट रहा था। शरत् की मार्फत सुना था कि गाड़ी की आशा में वह उत्कण्ठित होकर चन्द्रा के कमरे में, खिड़की के पास वैठी थी। मुझे कहने में कोई संकोच नहीं है कि मैं चाह रहा था कि उस 'स्वार्थी लड़की' को थोड़ा-सा सवक मिले।

क्रमशः दिन चढ़ने लगा। उस विगड़ी हुई मोटर गाड़ी पर और

भरोसा न करके जब पिता जी हम लोगों को ट्रेन से रानीगंज भेजने की बात सोच ही रहे थे कि उस बिगडी गाड़ी ने एक भयंकर हुंकार के साथ मानो यह जताया कि वह चलने की स्थिति में है। ऊपर कैनवास की छत, हुड़गिल्ल, सिपाही-मार्का चेहरा और बेंत के फीते लगे पुराने समय के पहिये देखकर उस गाडी का रोब समझना कठिन था।

पेट में खोंचा मारकर हताश की मुद्रा में शरत् ने कहा—"हत् तेरी की'''." कहकर वह अपनी शरारत-भरी हंसी हंसा—"बैड लक है तुम्हारी।"

पिता जी के मन में संशय हुआ। उन्होंने सोचा कि मोटर गाड़ी का जो हाल दीख रहा है उससे, बीच रास्ते में ही उसके बिगड़ जाने की संभावना है; और यदि रास्ते में ही कल फिर बिगड जाए तो क्या होगा, ऐसी दशा में तो रेलगाडी से ही जाना निरापद है।

कह नहीं सकता कि मनोहर काका और पिता जी में क्या बातचीत हुई। आखिर हम लोग मोटर गाड़ी में ही चढ़े। माता जी ने हम लोगों की बलैंया ली, चन्द्रा ने रजनी का घूंघट संवार दिया और पता नहीं कान में क्या कहा। पिता जी ने हम लोगों को आशीर्वाद दिया और गाड़ी के चालक को तरह-तरह का परामर्श। मैं समझ गया कि अभी हम लोग आसनसोल तक तो इसी गाडी से जाएंगे और वहां से ट्रेन अथवा टैक्सी से रानीगंज। इस बीच यदि इस गाडी में किसी प्रकार की गड़बड़ी नहीं हुई तो, हालत देखकर, हम लोग इसीसे सीधे रानीगंज भी जा सकेंगे। गाडी चल पड़ी।

मनोहर काका सामने बैठे थे और हम लोग पीछे। खुद रजनी के छोटी होने से क्या होगा, आने-जाने में उसने जितने बक्से-गट्ठर आदि इकट्ठे कर लिये थे उनकी संख्या कुछ कम नहीं थी। पीछे माल-असबाब रखने की जगह में उसका एक बड़ा-सा बक्स और एक बोरा भी रखे

जा सके थे, बाकी जो हम लोगों के पांवों के नीचे और अगल-बगल में रखे गए थे, वे सामान थे—रजनी का सूटकेस, मेरा सूटकेस, नये कपड़ों की एक छोटी-सी गठरी और मिठाई की कुछ हांडियां। पिता जी ने अपने समधियाने के लिए घर-बागान के कुछ अनाज-वनाज भी दिए थे। वे सब बोरे में भरकर पीछे बांध दिए गए थे। गहने का एक छोटा-सा बक्सा मनोहर काका के जिम्मे कर दिया गया था।

जाते समय फागुन की धूप खूब तेज हो उठी थी। देहाती रास्ता था, गाड़ी पग-पग पर उछलती-कूदती जा रही थी, मानो अपनी करामात दिखाकर वह इस कच्चे रास्ते को अचंभे में डाल देगी। उसके पुर्जे-पुर्जे से तरह-तरह की आतंकजनक आवाजें आती देखकर भी मुझे बुरा नहीं लग रहा था, किन्तु उससे रजनी खुश नहीं हो पा रही थी।

हम लोगों के देहाती रास्तों की शोभा वह देख तो रही थी, किन्तु उससे वह आनन्द भी पा रही थी, ऐसा नहीं लगता था। पलाश-वन, कमल-नाल सरोवर, कातिकपुर की पुरानी दो नम्बर की खान, धंसी हुई ज़मीन, वनतुलसी का जंगल आदि बारी-बारी से गुज़र गए। रेल लाइन के पुलों को पार करके गाड़ी पथरीले रास्ते पर आई। अब तक गाड़ी का चालक भी कुछ प्रकृतिस्थ हो गया था।

पता नहीं कब, रजनी का घूंघट सरककर छोटा हो गया था। मुख-मंडल पर अब निश्चितता झलक उठी थी।

कोयला-खदान के एक छोटे से बाज़ार को पार कर हम लोग रेल के फाटक के पास आए। फाटक बंद था, हमारी गाड़ी खड़ी रही। हठात् मैंने देखा कि सत्यनारायण साइकिल पर सवार होकर आ रहा था। वह मेरा मित्र था, हम लोग एक ही क्लास में पढ़ते थे। वह स्कूल जा रहा था, उसकी साइकिल के पीछे किताब-कापी बंधे थे।

मनोहर काका के कारण हम लोग इतनी दूर तक चुप थे। उनके

सामने हम लोगों का बात करना शोभा नहीं देता, यह हम दोनों ने ही जैसे किसी अलिखित कानून के अनुसार समझ लिया था। सत्य को देख पाने पर मुझे थोड़ा-सा आतंक हुआ। वह बड़ा अकाल-प्रौढ़ लड़का था। उसके गले का स्वर मोटा था तथा वह ज़ोर-ज़ोर से बातें करता था। मुझे देखते ही वह मेरी गाड़ी के सामने आकर हाजिर हो जाएगा। रजनी और मुझको इस तरह देखकर वह क्या कह उठेगा, इसका पता नहीं, क्योंकि उसमें सहज-बुद्धि बहुत कम थी।

सत्य प्रायः रेल के फाटक के पास आ गया। मेरी ससुराल ले जाने वाले इस वाहन का रूप-रंग उसकी नज़रों को तुरंत अपनी ओर खींच लेगा, इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं था। वैसा अकाल-प्रौढ़ लड़का हम लोगों को एक बार देख लेने पर कैसा हंसी-मज़ाक करेगा, क्या बोल उठेगा और स्कूल जाकर मित्र-मंडल में कैसे-कैसे शिगूफे छोड़ेगा, यह सोचकर ही मैं इतना उद्विग्न और भयभीत हो उठा कि रजनी का हाथ पकड़कर इशारे से मैंने उसे सिर छिपाने को कहा। रजनी ने कुछ समझा नहीं, विमूढ़ होकर आश्चर्य-भरी दृष्टि से वह मेरी ओर देखने लगी। मैं जितना ही इशारे से उसे अपना सिर छिपाने को कहता, वह उतना ही अपना सिर ऊंचा करती और चारों ओर ताकती। मनोहर काका की उपस्थिति में मेरे बोलने का उपाय नहीं रहा। क्रोध से मैंने रजनी के शरीर में कोहनी से मारा और रेल लाइन की ओर मुंह घुमा लिया। धीरे से 'उः' कह कर दूसरे ही पल उसने भी बदले में मुझे एक धक्का मारा।

सत्य ने मुझे देख लिया। उसके मुंह पर हंसी चमक उठी। वह आगे बढ़ता आया।

गाड़ी की खिड़की के पास आकर उसने हम लोगों को कुछ देर साश्चर्य देखा। उसकी दोनों आंखें एक बार गोल हुईं, फिर विस्फा-

रित और उसके बाद उसके मुंह से विचित्र हंसी फूट पड़ी—"क्... क्...कहां जा रहा है?" हकलाते हुए उसने पूछा। वह थोड़ा-थोड़ा हकलाता था।

"रानीगंज।"

"स्...ससुराल!" वह एक ऐसी निःशब्द हंसी हंसा मानो ससुराल हलवाई की दुकान का रसगुल्ले रखने का बड़ा बर्तन हो।

झेंप के साथ मुस्कराते हुए मैंने प्रसंग बदलने की चेष्टा की—"तू स्कूल जा रहा है?'

"हां, जाता हूं। ते...तेरा क्या,......तू तो मजे में है।"

मनोहर काका के सामने वह गधा कहीं और कुछ न कह बैठे, इस भय से मैं घबरा उठा और जल्दी-जल्दी बोला—"पशुपति सरजी कौन-सा फार्मूला करा रहे हैं!"

"प्...प्...प्र...प्रॉफिट ए...एण्ड लॉस...।" इसे बताने में उसे कुछ अधिक कष्ट करना पड़ा। किन्तु केवल उतने-से कष्ट के लिए उसके आंख-मुंह के इतने लाल होने की बात नहीं थी। शायद एक अपरिचित किशोरी के सामने अपने हकला होने के कारण उसे इतनी लाज आ रही थी।

उसकी लाज को जैसे मैंने देखा नहीं, इस तरह मैंने उससे कहा—"मैं बहुत दिनों से स्कूल नहीं जा रहा हूं। वापस आकर जाऊंगा।"

"जा...जाना" कहकर सत्य ने जैसे कुछ सोचा, उसके बाद कहा—"तू...तू एकदम कार्तिक हो गया है। कार्तिक देव...।"

मनोहर काका ने गर्दन घुमाकर सत्य को देखा। मेरी जान पर आफत आई हुई थी। मैंने मनोहर काका को इशारे से उसके बारे में बताया।

एक पल मनोहर काका को देखकर उसने फुसफुसाकर कहा—

एस्लाय फॉवम मेट ए हेन।'''जा, ससुराल का लाड़-प्यार भोग आ। मैं च'''चला।"

उसके बाद उसने अपनी शरारत-भरी आंखों से रजनी और मुझ को देखकर साइकिल की घंटी बजा दी।

रेल का फाटक खुल रहा था। हमारी गाड़ी को स्टार्ट करने की चेष्टा की गई और सत्य साइकिल पर सवार हो गया था। किन्तु मनोहर काका ने मुझसे कुछ नहीं पूछा।

गाड़ी के स्टार्ट होते पर रजनी आंचल से अपना मुंह दबाकर हंसी को रोकने की चेष्टा कर रही थी। उसके हंसने का कारण मेरी समझ में नहीं आ रहा था। प्रश्न-भरी दृष्टि से देखने पर भी मुझे कोई उत्तर नहीं मिला, जबकि उसके हंसने का कारण न जान पाने से मुझे एक तरह की बेचैनी-सी हो रही थी।

मैंने आंखों ही आंखों में प्रश्न भरकर बिना आवाज़ किए होंठों को हिलाया—"क्यों हंस रही हो?"

कनखियों से मनोहर काका को देखकर उसने पहले अपने घूंघट से आड़ कर ली, उसके बाद होंठों को हिलाकर उसने कुछ कहा।

मैं उसकी बात समझ नहीं सका। मैं बार-बार होंठों को हिलाता हुआ पूछता—क्या? वह भी बार-बार अपने होंठों को हिलाती।

अन्त में मेरे हाथ को खींचकर तथा उसे अपनी गोद में रखकर वह अपनी पतली उंगली से मेरी हथेली पर जाने क्या लिखने लगी। उसके कई बार लिखने के बाद मैं समझ सका कि मेरा कातिकदेव नाम उसे बड़ा पसन्द आया था।

इस प्रकार मनोहर काका के पीछे रहकर एक-दूसरे की हथेलियों पर लिखते हुए और होंठ-मुंह चलाकर निःशब्द बातचीत करते हुए हम लोग रास्ता काटते रहे। उसी में उंगली खींचना, चिकोटी काटना

रित और उसके बाद उसके मुंह से विचित्र हंसी फूट पड़ी—"
क्···कहां जा रहा है?" हकलाते हुए उसने पूछा। वह थोड़ा-थोड़ा हकलाता था।

"रानीगंज।"

"स्···ससुराल!" वह एक ऐसी निःशब्द हंसी हंसा मानो ससुराल हलवाई की दुकान का रसगुल्ले रखने का बड़ा बर्तन हो।

झेंप के साथ मुस्कराते हुए मैंने प्रसंग बदलने की चेष्टा की—"तू स्कूल जा रहा है?'

"हां, जाता हूं! ते···तेरा क्या, ······तू तो मजे में है।"

मनोहर काका के सामने वह गधा कहीं और कुछ न कह बैठे, इस भय से मैं घबरा उठा और जल्दी-जल्दी बोला—"पशुपति सरजी कौन-सा फार्मूला करा रहे हैं!"

"प्···प्···प्र···प्रॉफ़िट ए···एण्ड लॉस···।" इसे बताने में उसे कुछ अधिक कष्ट करना पड़ा। किन्तु केवल उतने-से कष्ट के लिए उसके आंख-मुंह के इतने लाल होने की बात नहीं थी। शायद ए
अपरिचित किशोरी के सामने अपने हकला होने के कारण उसे इत
लाज आ रही थी।

उसकी लाज को जैसे मैंने देखा नहीं, इस तरह मैंने उससे कह
"मैं बहुत दिनों से स्कूल नहीं जा रहा हूं। वापस आकर जाऊंगा

"जा···जाना" कहकर सत्य ने जैसे कुछ सोचा, उसके
कहा—"तू···तू एकदम कार्तिक हो गया है। कार्तिक देव···।"

मनोहर काका ने गर्दन घुमाकर सत्य को देखा। मेरी
आफत आई हुई थी। मैंने मनोहर काका को इशारे से उसके
बताया।

मनोहर काका को देखकर उसने फुसफुसाक

एम्लाय फॉक्स मेट ए हेन।"'आ, ससुराल का लाड़-प्यार भोग आ। मैं च्'''चला।"

उसके बाद उसने अपनी शरारत-भरी आखो से रजनी और मुझ को देखकर साइकिल की घंटी बजा दी।

रेल का फाटक खुल रहा था। हमारी गाड़ी को स्टार्ट करने की चेष्टा की गई और सत्य साइकिल पर सवार हो गया था। किन्तु मनोहर काका ने मुझसे कुछ नहीं पूछा।

गाड़ी के स्टार्ट होने पर रजनी आचल से अपना मुह दबाकर हसी को रोकने की चेष्टा कर रही थी। उसके हसने का कारण मेरी समझ में नही आ रहा था। प्रश्न-भरी दृष्टि से देखने पर भी मुझे कोई उत्तर नही मिला, जबकि उसके हसने का कारण न जान पाने से मुझे एक तरह की बेचैनी-सी हो रही थी।

मैंने आखों ही आखो मे प्रश्न भरकर बिना आवाज किए होठों को हिलाया—"क्यों हस रही हो ?"

कनखियों से मनोहर काका को देखकर उसने पहले अपने घूघट से आड़ कर ली, उसके बाद होंठो को हिलाकर उसने कुछ कहा।

मैं उसकी बात समझ नही सका। मैं बार-बार होठों को हिलाता हुआ पूछता—क्या ? वह भी बार-बार अपने होठो को हिलाती।

अन्त में मेरे हाथ को खीचकर तथा उसे अपनी गोद में रखकर वह अपनी पतली उगली से मेरी हथेली पर जाने क्या लिखने लगी। उसके कई बार लिखने के बाद मैं समझ सका कि मेरा कार्तिकदेव नाम उसे बड़ा पसंद आया था।

इस प्रकार मनोहर काका के पीछे रहकर एक-दूसरे की हथेलियों पर लिखते हुए और होठ-मुह चलाकर निःशब्द बातचीत करते हुए हम लोग रास्ता काटते रहे। उसी में उंगली खीचना, चिकोटी काटना

और कौंचा मारना भी बीच-बीच में चल रहा था।

देखते-देखते जी० टी० रोड पकड़कर गाड़ी आगे बढ़ने लगी। धूप तेज़ हो उठी थी। हवा कुछ गरम हो गई थी। रास्ते और मैदान में रिक्तता फैली हुई थी। सब कहीं सन्नाटा छाया हुआ था। केवल कहीं-कहीं शस्य-रहित मैदान में पंछी दल बांधकर, अन्न-कण खोज रहे थे।

रजनी शायद अबेर की नींद से थोड़ा ऊंघ रही थी। उसे धक्का देकर मैंने जगा दिया। आसनसोल आ गया था।

मनोहर काका ने बाज़ार में गाड़ी रुकवाई। चाय, पान और तम्बाकू के बिना उनका मन बेचैन हो उठा था। गहनों का बक्सा हम लोगों के ज़िम्मे देकर वे चाय की अपनी तलब मिटाने चले गए। ड्राइवर बाबू ने भी चाय की दुकान की ओर कदम बढ़ाए।

घूंघट सरकाकर रजनी अधीर स्वर में बोली—"प्यास लगी है। पानी पिऊंगी।"

सामने ही पान की दुकान थी। मैंने रजनी से पूछा—"लेमनेड पिओगी?"

"खट्टा-मीठा पानी न ! बड़ा कड़ुआ होता है•••।"

"लेमनेड में कड़ुआहट कहां होती है! वह तो सोडावाटर में होती है।"

"तुम्हारे पास पैसे हैं?"

"हैं!"

"तब तो पिऊंगी।"

रजनी गाड़ी पर ही बैठी रही और मैं उतर पड़ा। वह गहनों के बक्से को अपनी गोद में रखे हुए बैठी थी। अकेली बैठी वह थोड़ी उद्विग्न-सी दीख रही थी।

लेमनेड पीते समय उसने अपने गले और छाती को भिगो लिया। आख-मुह की विचित्र मुद्रा बनाकर उसने कई बार डकार ली। अन्त में उसने कहा—"जी खराब हो रहा है। बड़ा बुरा लग रहा है।"

"पान खाओगी ?"

तुरंत ही सिर हिलाकर उसने अपनी सम्मति जताई, किन्तु दूसरे ही क्षणों मुह पर उदासी लाकर वह बोली—"वे जो हैं !" 'वे' से उसका मतलब मनोहर काका से था।

उस समय तक न मनोहर काका लौटे थे और न ड्राइवर बाबू ही, इसलिए रजनी यदि इस समय एक बीड़ा पान मुह में डाल भी ले तो कोई उसे कैसे जान सकेगा ! फिर मनोहर काका के पीछे रहकर यदि घूघट की ओट में वह पान चबाए भी तो काका को नजर नहीं आएगा। मैंने यह वास्तविकता उसे समझा दी।

वह खूब खुश हुई। बोली—"भाग कर ले आओ। तुम मत खाना, ससुराल जा रहे हो।" उसके उपदेश देने का ढंग गुरुजनों के ढंग जैसा था। मैं हंस पड़ा।

मुझे जाते हुए देखकर उसे जैसे कुछ याद हो आया। बोली—"पान में 'वो' डलवाकर ला सकोगे—वह जो ठण्डा-ठण्डा-सा होता है, कन-कन करता है।" कहते-कहते उसने स्-स्-स् करते हुए मुंह के भीतर हवा खीची और यह बताया कि उसका वो जीभ को कैसा ठण्डा लगता है।

"पीपरमेण्ट ?"

"हां—?" उसने सिर हिलाया।

पान की दुकान से रजनी के लिए दो बीड़ा पान ले आया। एक में पीपरमेंट था और दूसरे में थोड़ा-सा जर्दा। उसे जर्दा खिलाने की दुर्बुद्धि क्यों हुई, यह नहीं जानता। शायद उसे थोड़ा-सा नीचा दिखाने

की इच्छा थी मेरी।

गाड़ी के पास लौटकर रजनी के हाथ में पीपरमेंट वाला पान देते हुए कहा—"इसे अभी खा लो। एक और है, उसे रानीगंज पहुंच कर खाना।"

वह पीपरमेंट वाला पान मुंह में डालकर बड़े आनन्द से उसे चबाने लगी। जर्दावाला पान उसे आखिर तक खाना नहीं पड़ा। कारण, बाद में कहीं कुछ ऐसा-वैसा न हो जाए, इस डर से मैंने स्वयं उसका भंडाफोड़ कर दिया था।

ससुराल में हम लोगों का स्वागत बड़ी धूमधाम से हुआ। शंख और उलूक-ध्वनि तथा सामान्य कुछ पारिवारिक रस्म-रिवाज—ये सब वैसे महत्त्वपूर्ण नहीं थे। किन्तु रजनी के मायके के छोटे-बड़े सभी जिस तरह मेरे आदर-सत्कार में लग गए, उससे मैंने अपने भीतर के एक मर्यादा-सम्पन्न व्यक्ति का आविष्कार किया और इस प्रकार एक विशेष गौरव का अनुभव किया। उठते-बैठते-चलते—सब समय लोग मेरे इर्द-गिर्द मंडराते रहते। रजनी की अपेक्षा मेरा आदर-सत्कार जो अधिक होता था, उससे मैं और भी खुश हो उठता था। अपने घर में गत कुछ दिनों रजनी का खूब ही आदर-सत्कार और लाड़-प्यार होते देखा था। पिता जी, माता जी, चन्द्रा—सभी अपने घर के लड़के को भूलकर दूसरे के घर की कन्या को लेकर ही हरदम खोये रहते थे। उस पक्षपातपूर्ण व्यवहार का निवारण और प्रतिकार अंततः रजनी के मायके में देखने को मिला।

रजनी के सगे-संबंधियों में से प्रायः सभी विवाह के बाद चले गए थे। रहनेवालों में से थे नलिनी दीदी, छोटी बुआ, मामी आदि कुछ लोग। नलिनी दीदी के पति प्रभात भैया भी थे। विवाह के समय

उन्हें बाहर के काम-काज में इतना व्यस्त रहना पड़ा था कि मेरे साथ उनका ठीक से परिचय भी नहीं हुआ था। निमंत्रण पाकर भी वे हम लोगों के घर नहीं आ सके थे। उस समय वे सर्दी-बुखार से ग्रस्त होगए थे। अबकी उनके साथ मेरा परिचय अच्छी तरह हुआ।

प्रभात भैया बड़े मजेदार आदमी थे। वर्दवान मेडिकल स्कूल की परीक्षा पास करने में उन्होंने सात वर्ष लगा दिए थे। बस, कुछ ही दिनों पहले उस परीक्षा को पास कर वे वहीं मेडिकल स्कूल में ही बहाल हुए थे। उनका चेहरा भरा-पूरा था, कद नाटा और शरीर का रंग गोरा था। अनुमानतः वे सत्ताईस-अट्ठाईस वर्ष के थे। वर्दवान में उनका घर था। परिवार सुखी-सम्पन्न था। कई कारोबार थे उनके, इसलिए उनका मेडिकल साइंस पढ़ना मानो गुरुजनों का आदेश मानना भर था।

प्रभात भैया ने ही मेरी देख-भाल का अधिक भार लिया था। अपनी तरह-तरह की अनर्गल कहानियों को सुनाकर वे मुझे अभिभूत कर देते थे।

नहाने और खाने-पीने के बाद मैं अपने कमरे में लौट आया। प्रभात भैया भी मेरे साथ आए थे। दोतल्ले पर का जो कमरा मेरे लिए ठीक किया गया था वह उतना बड़ा नहीं था, किन्तु उसके चारों ओर खुला हुआ था। खड़-खड़ी वाले दरवाजे और खिड़कियां थे। बाहर के पतले-से लम्बे बरामदे की ओर एक जोड़ा नारियल गाछ झुके हुए थे। कमरे में माल-असबाब की कमी नहीं थी। पलग, कांच-लगी अलमारी, आईना, टेबल, चेयर, देवी-देवताओं के चित्र और फोटो के अलावा कशीदे-कढ़े चित्र भी थे। एक कशीदे कढ़े चित्र ने सबसे पहले मेरी दृष्टि को आकर्षित किया था। हरे और लाल रंग का एक पक्षी पर पसार कर उड़ा जा रहा था। उसके नीचे टेढ़े-मेढ़े

अक्षरों में लिखा हुआ था, 'जाओ पंछी वोलो उसको, वह ऐसे नहीं भूले मुझको।''

कमरे में आने के वाद प्रभात भैया ने किवाड़ भिड़ा दिया था और कहा था—''लो, थोड़ा-सा सुस्ता लो।''

मैं पलंग पर वैठा नहीं, खड़ा रहा। पश्चिम की ओर खुली हुई खिड़की से निकट ही कमल-पत्तों से भरा हुआ एक पोखर दिखाई पड़ता था। पोखर से सटे हुए वागान में पेड़-पौधों की छाया थी। पंडुक के कूजन से दोपहर की अलसता क्रमशः निविड़ होती जा रही थी।

प्रभात भैया ने जेव से सिगरेट का पैकेट और दियासलाई निकाले। पलंग पर वैठकर पांवों को हिलाते हुए वड़े आराम से उन्होंने एक सिगरेट सुलगाई और कहा—''छोटे वावू, दूं एक, पिओगे ? सिगरेट का पैकेट उन्होंने कौतुकपूर्वक हंसते हुए मेरी ओर वढ़ा दिया।

लाज के मारे मेरा मुंह लाल हो उठा। मैंने सिर झुका लिया।

प्रभात भैया ने कहा—''तुम एकदम नावालिग वरह्मचारी हो।'' कहकर वे मोटे गले से हंसे। ''जानते हो छोटे वावू ! जव मैं तुम्हारे जितना था, तो मैं पढ़ने के कमरे में धूनी जलाकर सिगरेट पीता रहता था।''

भिड़े हुए दरवाजे को ठेलकर हाथ में पानी की एक छोटी-सी रकावी लिये नलिनी दीदी आई। प्रभात भैया ने ही पहले पान उठा लिया। नलिनी दीदी ने मेरे सामने चांदी की रकावी रख दी और कहा—''लो भाई।''

''मैं पान नहीं खाता।''

''हाय राम, ऐसा भी क्या ! घर में जमाई आया है और वह पान भी मुंह में नहीं देगा। लो खाओ···खाना चाहिए, समझे। यह पान

चीनी ने बनाया है, देखो न खाकर...।"

"खा लो छोटे बाबू।" प्रभात भैया ने कहा, "ससुराल में कुछ भी लेने से मुह नहीं मोडना चाहिए।" नलिनी दीदी की ओर देखकर प्रभात भैया अर्थपूर्ण मुद्रा में हसे।

एक भी पान खाने की मेरी इच्छा नही थी, ऐसा नहीं। मैंने पान ले लिया। वे खड़ी रही।

मैं पान चबा रहा था। नलिनी दीदी ने हसते हुए पूछा, "कैसा बनाया है?" मैं लाज से गड़ गया।

प्रभात भैया ने रस लेते हुए कहा, "बड़ा अच्छा बनाया है, मजेदार है—तुम्हारी ही तरह मसालेदार...।"

भौंहे चढाकर नलिनी दीदी ने प्रभात भैया की तुरत भर्त्सना की, "बच्चों के सामने यह कैसी बात...! कहकर उन्होंने मेरी ओर मुंह घुमाया, "इस आदमी से ज्यादा मेल-जोल नहीं बढ़ाना चाहिए भाई! तुम्हारा बेड़ा गरक कर देगा।"

प्रभात भैया ने जवाब दिया—'कौन किसका बेड़ा गरक कर रहा है, नलिनी, यह तो भगवान ही जानते हैं। जानते हो छोटे बाबू, मेडिकल स्कूल में भर्ती होने के बाद ब्याह किया। पास करते हो गए, केवल तुम्हारी इसी नलिनी दीदी के चलते मेरे 'लम्फ' (एल० एम० एफ० पास) डाक्टर होने में देर हुई। वह हिस्ट्री मैं तुम्हें और किसी दिन सुनाऊंगा, तुम जरा और बड़े हो जाओ।"

पति की ओर त्योरी चढ़ाती हुई नलिनी दीदी ने एक बीड़ा पान फेंककर मारा। वे और रुकीं नहीं। प्रभात भैया हंसने लगे।

प्रभात भैया और नलिनी दीदी के युवकोचित प्रणय तथा रसालाप को पूर्णतया नहीं समझ पाने पर भी अज्ञात इन्द्रियों द्वारा दोनों के मधुर सम्पर्क का अनुभव करके मुझे एक विचित्र आनन्द

मिला।

दोपहर को विश्राम के समय प्रभात भैया ने मुझे वर्दवान शहर के प्रति आकर्षित करने की चेष्टा की। उन्होंने परामर्श दिया कि मैट्रिक पास करते ही मैं वर्दवान चला जाऊं, वहां का कालेज बड़ा विख्यात है। बांकुडा भी भला कोई शहर है वहां तो कुष्ठरोगियों की भीड़ लगी रहती है और वहां का क्रिश्चियन कालेज, वह तो 'नाम बड़े और दर्शन छोटे।'···इसी तरह वर्दवान और बांकुड़ा की तुलना सुनते-सुनते मुझे तन्द्रा आ गई। प्रभात भैया ने भी आंखें मूंद लीं।

वनैले पशु वन में और शिशु मां की गोद में, कितने सुन्दर लगते हैं, यह मैं बंगला कक्षा में फटाफट बता सकता था। किन्तु रानीगंज में आकर रजनी का जो रूप मैंने देखा, उससे मेरी यह धारणा बनी कि संजीवचन्द्र वालिका वधू के मायके से लौटने के सौंदर्य का चित्रण करना भूल गए थे। वन्य पशु वन में जितना सुन्दर लगता है, किशोरी विवाहिता कन्या पितृगृह में उसकी अपेक्षा कुछ कम सुन्दर नहीं लगती। अपनी-अपनी जगह में दोनों ही जैसे अपने स्वाभाविक जीवन को फिर से प्राप्त कर लेते हैं।

रानीगंज में आकर रजनी का वधू-रूप खो गया। इन्हीं कई दिनों में साज-सज्जा और आचार-व्यवहार में एक ऐसी भूमिका का अभिनय करना पड़ा जिसका उसे आभास नहीं था और उसके चलते पग-पग पर उसे एक तरह की विडम्बना भोगनी पड़ी थी। मायके आने के साथ ही जैसे वह उस भार से मुक्त हो गई। वह मेरे सम्मुख नहीं आती थी परन्तु फिर भी मैं उसकी उपस्थिति का आभास पा जाता था। उसके सगे-संबंधी उसे लेकर जो कौतुक करते थे और उस कौतुक में वह किस तरह सजीली हो उठती थी, यह मैं आभास से जान लेता था। उसकी सखियों के आ घेरने पर वह कमर में साड़ी

का आंचल लपेटकर आंगन के अमरूद के पेड़ की डाल पर बैठकर किस तरह गप में खो जाती थी—यह भी मैंने देखा था। उसके महीन गले का स्वर, उसका तर्जन-गर्जन और उसकी उछल-कूद की आवाज भी थोड़ी-बहुत मेरे कानों में आती थी। किन्तु वह एक बार भी मेरे सामने नहीं आई।

अपराह्न में प्रभात भैया मुझे साथ लेकर शहर घूमने निकले। दुकान, बाजार-हाट और लोगों को देखकर जब हम लोग लौट रहे थे, तब प्रभात भैया ने नलिनी दीदी के लिए जर्दा खरीदा। रजनी के लिए एक शीशी पिपरमेंट खरीदने की इच्छा मुझे भी हुई। बहाने से प्रभात भैया से दूर जाकर मैंने अपने मन की यह इच्छा पूरी की।

संध्या बड़ी अच्छी तरह बीती। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि मेरे कमरे में फिर एक बार 'वासर' जमा था। घर के गुरुजन झांककर ही चले गए। वहां रुकने वालों में थे—नलिनी दीदी, और उन्हीं की समवयस्क दो-एक महिलाएं, रजनी की सखियां, तीन बार में मैट्रिक पास करने वाले मधु भैया और दो-एक लड़के-बच्चे। नलिनी दीदी ने हारमोनियम बजाकर गाया—

दीखता है काला पंछी, दीखते काले उसके पंख।
"उसे हैं कोयल कहते लोग, दीखता आता जबकि बसंत।"

प्रभात भैया शौकिया जादूगर थे। उनका हाथ-सफाई का खेल और हंसी-मजाक शुरू हुआ। हंसी के ठहाकों के बीच ही उस मजमे में प्रभात भैया ने मेरी नाक दबाकर रुपया निकाला और रजनी की गोद से बतख का अंडा। इस पर हंसने-हंसाने की धूम मच गई। अंत में प्रभात भैया ने तुरुप के एक्के की भांति, मेरे पॉकेट से रजनी के वास्ते खरीदी गई पिपरमेंट की शीशी को भी मजमे में बाहर निकाल लिया। लोगों में हंसी की लहर दौड़ गई। लाज के मारे मेरा मुंह लाल हो गया

था। मैं सिर नीचा किए बैठा रहा। रजनी भाग खड़ी हुई।

रात को मेरी बगल में बैठकर और मेरा ही दिया हुआ पिपरमेंट वाला पान चबाते-चबाते परम ज्ञानी की भांति रजनी बोली—"तुम एकदम ढपोरशंख हो।"

मेरे प्रति रजनी के मन में ऐसी हेय भावना का जन्म क्यों हुआ, यह समझने की मैंने चेष्टा नहीं की। पिपरमेंट की शीशी का भरे मजमे में दिख जाना ही सारी गड़बड़ी का मूल था, यह मैं समझ गया। मेरी साध की शीशी रजनी के हाथ में थी। तुरंत उसने शीशी खोली थी और पान में पिपरमेंट डालकर खाया था। पता नहीं, सिर के बाल के कांटे से पान में पिपरमेंट लगाने की विधि उसने कहां से सीखी थी।

मैंने कहा—"प्रभात भैया के चार आंखें हैं।"

रजनी इमली के बीजों को उछाल-उछालकर खेलने में दक्ष थी। अपनी उसी दक्षता के साथ उन्हीं बीजों की तरह वह उस शीशी को भी उछालती और लपकती थी। शायद यह भी उसका एक मुद्रा-दोष था। वह बोली—"ठीक हुआ, सभी ने तुम्हें बेहया समझा। सभी ने सोचा कि तुम ऐसे लड़के हो जिसके पेट में ही दाढ़ी हो गई है।"

बात ससुर जी और मनोहर काका के कानों तक पहुंची है या नहीं, यह जानने को मैं व्यग्र हो उठा। पूछा—"किसी ने मां को कहा है क्या?"

"मां तो किसी तरह सुन ही लेगी।"

"मनोहर काका या ससुर जी के कानों तक बात गई है क्या?"

"सो नहीं जानती।"

मुझे थोड़ा-सा क्रोध हुआ। रजनी के चलते ही ऐसी विडम्बना हुई। वह यदि पान खाने को लालायित नहीं होती तो यह विपत्ति भी न आती। यहां रहना पड़ेगा, उसकी बड़ी बहन और परिवार के अन्य

लोगों की तरह उसे भी पान खाने की लत लग रही थी। मैंने कहा—"रत्ती-भर की लड़की का इतना पान खाना ठीक नहीं। दांत में दाग पड जाएंगे, कीड़े लग जाएंगे।"

"नई-नई दुल्हन पान खाती ही है।"

"तुम नई दुल्हन न, मेरे यह हो···।" कहकर मैंने अगूंठा दिखाया।

रजनी ने तुरत ही मेरा मुह चिढ़ाकर कहा—"तुम भी दुल्हे नहीं, कच्चू हो···इतनी छोटी-सी शीशी छिपाकर रखने की सामर्थ्य नहीं और दुल्हा बना है! उस पर कहता है, सेकड पचास में पढ़ता हूं···आ···हा···रे!" सिर हिलाते हुए मुह चिढाने की उसने एक ऐसी मुद्रा बनाई कि मैं हंस पड़ा।

"ऊपर से हंसता है।" रजनी ने भर्त्सना की।

"ठीक है, कल मैं चला जाऊंगा। उसके बाद तुम···।"

"सभी जाते हैं। जमाई क्या ससुराल में पड़े रहते हैं!" रजनी ने बेहिचक कहा।

शायद मन को बड़ी ठेस लगी। आगे बात न करके मैं लेट गया।

रात हो गई थी। रजनी बरामदे की ओर वाले खड़खड़िया-दरवाजे को बंद कर और बत्ती बुझाकर बिछावन पर बैठी। उसके बाद मुझे धकेलते हुए बोली—"मैं दीवाल की तरफ सोऊंगी। तुम खिड़की की तरफ जाओ।"

"तुम इधर सोओगी—मेरी बाईं तरफ···।"

"नहीं, इधर तुम सोओगे।···यहां से वह नारियल गाछ दिखाई पड़ता है।"

"वहां भूत है?"

उसने कोई उत्तर नहीं दिया, जैसे उत्तर देना बेकार था। वह

ज़ोर-ज़ोर से मुझे खींचने लगी। जगह बदलकर मैं सो गया। थोड़ी देर बाद ही शायद भूत के डर से उसने मेरी ओर करवट बदली और यथासंभव वह मुझसे सट गई उसके मुंह से पिपरमेंट की मधुर गंध आ रही थी।

अगले दिन की सुबह बीती। उसके बाद ही यात्रा की तैयारी होने लगी। नहा-धो और खा-पीकर मैं तैयार हो गया था। दिन के दो बजे के आस-पास ट्रेन थी। ट्रेन से ही हम लोगों को लौटना था। मनोहर काका भी तैयार हो गए थे। सुबह से ही मैंने रजनी को नहीं देखा था, बस, कभी-कभार उसकी आवाज़ कानों तक आ जाती थी।

जब सब तैयारी पूरी हो चुकी थी तो नलिनी दीदी मुझे पूजा-घर में जाने को कह गईं। मैं भीतर की ओर जा रहा था कि हठात् किसी कोने से निकलकर रजनी ने चुपके-से मेरे कुरते को खींचा। आंख और मुंह के इशारे से मुझे बुलाकर वह बगल की सीढ़ी से भागी। आस-पास कोई नहीं था, मैंने भी सीढ़ी की राह पकड़ी।

दोतल्ले की छत के पास, जीना के नीचे थोड़ी-सी जगह थी—सीढ़ियों की चौड़ाई लिए। रजनी वहीं खड़ी थी, उसके माथे पर ज़रा भी कपड़ा नहीं था, क्षणभर मुझे देखने के बाद वह बोली—"रेलगाड़ी में सावधानी से जाना। हर स्टेशन पर गाड़ी के रुकने पर उतरना नहीं। समझे—!"

उसके इस गुरुजन-सुलभ उपदेश पर मैं बिना हंसे नहीं रह सका। शायद किसीने उसे यह उपदेश देने की सीख दी थी या इस तरह का उपदेश देने की रीति है।

"हंस रहे हो ?"

"कहां !"

"जैसे मेरे आंख नहीं है...घर जाकर चन्द्रा से कुछ मत कहना।"

"क्या नहीं कहूंगा ?"

"कुछ भी मत कहना। पीपरमेंट की बात तो मुह पर लाना ही नहीं।"

मैंने सिर हिलाया—"नहीं कहूंगा।" यदि वह मना न करती तो मैं कह देता, ऐसी बात नही।

दो पल कुछ सोचकर वह बोली—"रोज स्कूल जाना, मन लगाकर पढ़ाई-लिखाई करना। गफलत करोगे तो खुद भोगोगे।" कहते-कहते उसके मुंह का भाव और गले का स्वर बदल गया। उसके नितान्त सरस और हंसी-भरे मुंह पर कैसी एक विषण्णता छा गई, उसके वाक्पटु होंठ स्तब्ध हो गए जैसे वे उत्तरोत्तर फूलते जा रहे थे।

नीचे मुझे पुकारा जा रहा था। अपने आंचल के नीचे छिपाए हुए दाहिने हाथ को झट से बाहर निकालकर रजनी ने मेरी मुट्ठी में एक पान रख दिया और कहा—"गाड़ी में खाना।" कहकर दनदनाती हुई वह नीचे उतर गई।

पान में उसने पिपरमेंट डाला था।

छः

यहां मेरे पिताजी की लिखी 'किशोर-विवाह और सामाज-हित' पुस्तक के बारे में उल्लेख करना आवश्यक है। उतनी-सी उम्र में उस पुस्तक से भला मेरा क्या लगाव हो सकता था! शरत् ने तो उसके दो-चार पृष्ठ पढ़े भी थे। पिता जी ने कन्या-दान के साथ ही अपने समधी जी को अपनी 'किशोर-विवाह और समाज-हित' की एक प्रति

भी प्रदान की थी। उनका उद्देश्य था कि कन्या तथा जामाता के संबंध में उनके विचारों और सिद्धांतों का पालन हो। इसी तरह वह पुस्तक शरत् के हाथों पड़ी थी और कुछ पन्नों को पढ़कर उसने उसे गुप्त जगह में छिपा दिया। मेरे विवाह के ठीक दूसरे ही दिन से वह रह-रहकर हल्के मुसकराने लगा था। पर उसकी उस मुसकराहट की ओर मैंने कोई ध्यान नहीं दिया था।

रानीगंज से मेरे वापस आने के बाद शरत् और चन्द्रा अपने घर चले गए। चन्द्रा को पिता जी भेजना नहीं चाहते थे, किन्तु शरत् के घरवालों ने यह स्पष्ट कहलवा दिया था कि वे लोग अपनी नव-वधू को इस समय मायकें में रहने देना नहीं चाहते। इसलिए पिता जी को बाध्य होकर राज़ी होना पड़ा था। जाने के पूर्व शरत् मुझे मेरे पिता जी की पुस्तक के संबंध में दो-चार बातें बता गया था।

उन लोगों के चले जाने के बाद मैंने पिता जी की पुस्तक चुराई। लुक-छिपकर थोड़ा-सा पढ़ने के बाद मैं समझ सका था कि शरत् उस तरह क्यों मुसकराता था। कहने में कोई संकोच नहीं है कि संसार में हानिकर अनेक पुस्तकें हैं, किन्तु किशोरावस्था में जो विवाह करते हैं उनके लिए मेरे पिता जी की पुस्तक न पढ़ना ही अच्छा है। कारण यह है कि ऐसी पुस्तकों का मन पर बड़ा गहरा आघात लगता है।

हम लोगों का समाज रसातल में जा रहा है, उसका पिताजी ने जिस तरह वर्णन किया है, मैं उसका पुनरुल्लेख करना नहीं चाहता। मोटी-सी बात यह है कि यदि हमें अपने घर को सुख-नीड़ बनाना हो और यदि हमें परिवार और संसार का कल्याण अभिप्रेत हो, तो संसार में नारी-पुरुष का स्वस्थ सम्पर्क स्थापित करना होगा, अर्थात् किशोरावस्था में पुत्र तथा कन्या का विवाह कराना आवश्यक है। वयस्क नर-नारी के विवाह में हृदय का सम्पर्क प्रायः नहीं के बराबर होता

है, प्राणों का भी मेल यथोचित नहीं हो पाता और प्रणय नामक वस्तु यौवन के ताप में दावानल की भाति केवल भड़कती है, दीप-शिखा की भाति जलती नही। पिता जी का मत है—किशोरावस्था में विवाह कराओ, देखोगे कि घर-परिवार स्वर्ग हो गया है, हृदय, प्राण, माया-ममता, प्रणय, कर्त्तव्य-ज्ञान, उदारता, स्वास्थ्य—जो भी कहो, सभी हाथों में आ जाएगे।

समाज, परिवार और मंगल-अमंगल के सबध में उस समय मुझे उतना ज्ञान नहीं था कि जिसके बल पर, कम से कम, मन-ही-मन पिता जी के मत के विरुद्ध मैं कोई प्रतिवाद कर सकता। यह बताना निरर्थक है कि मैंने स्वीकार कर लिया था कि किशोर-विवाह उत्तम वस्तु है और उसके द्वारा समाज और परिवार का भला होगा, किन्तु यह नही समझ सका था कि रजनी और मैं आपस में तीस-चालीस मील दूर रहकर कौन-सा मधुर सम्पर्क स्थापित कर सकेंगे!

पिता जी की धारणा थी कि किशोरावस्था में सुकुमार-मति बालक-बालिका की ज्ञान-बुद्धि का उन्मेष होता रहता है, उन लोगों का अंत:करण उस समय सरल और सतेज होता है तथा उन लोगों में एक स्वाभाविक उदारता और श्रद्धा-भक्ति विद्यमान रहती है। इस उम्र में विवाह कराने से पति-पत्नी का सम्पर्क मधुर होता है। उन लोगों में पहले-पहल जो सम्पर्क स्थापित होगा, वह भाई-बहिन के सम्पर्क-जैसा होगा। एक-दूसरे को प्यार करना सीखेगा, दोनों में सख्य भाव स्थापित होगा, आपस में दुष्टता तथा शिष्टता की स्वाभाविक इच्छा जागेगी, आपस में मुक्केबाजी भी होगी तो दुःख में एक व्यक्ति दूसरे को गले से लगाकर सान्त्वना भी देगा। इस तरह से जो एक आन्तरिक सम्पर्क स्थापित होगा, वह यौवन काल में यथार्थ प्रेम का सम्पर्क सिद्ध होगा। दैहिक वासना हृदय को मूल्यहीन नहीं

कर सकेगी। इस प्रकार किशोर और यौवनावस्था के खजाने में जो थाती जमा होती जाएगी, उसके योगफल से वृद्धावस्था बहुत अच्छी तरह व्यतीत हो सकेगी।

अपनी इन युक्तियों पर जोर देकर पिता जी ने तत्कालीन मनीषियों की जीवनी की चर्चा भी की थी। बंकिम, नवीन आदि के किशोर-विवाह का दृष्टांत उन्होंने ही दिया था। किन्तु पुस्तक-प्रणेता ने यह सोचकर नहीं देखा कि जमीन पर आग और गाछ में हांडी टांग कर रखने से चावल पककर भात नहीं होता। रजनी के साथ मेरा सम्पर्क दो-चार वर्षों तक भाई-बहिन के सम्पर्क-जैसा होगा, यह मैं स्पष्ट समझ गया और जितना-भर सान्निव्य प्राप्त हुआ था, वह भी केवल विवाह के आचार-अनुष्ठान तथा संस्कार के कल्याण के लिए था, यह भी मेरी समझ में आगया, किन्तु हम दोनों दो छोर पर रहकर कैसे वह सम्पर्क स्थापित करेंगे, मैं यह नहीं समझ सका।

कुछ दिनों तक मन किसी काम में नहीं लगा था, जैसे मन को अरुचि हो गई थी। सुबह से शाम तक सब समय रह-रहकर रजनी की याद आती। सवेरे किताब खोलकर पढ़ने बैठते ही उदास होकर कौए की कांव-कांव सुनता और सुनते-सुनते लगता कि हम लोगों का घर बड़ा सूना हो गया है। स्कूल में कभी-कभी अन्यमनस्क होकर खिड़की से बाहर ताकता रहता, सामने ही कारखाने का फव्वारा तालाब था, जिसमें लोहे के अनगिनत पाइपों से पानी का अविरल फव्वारा छूटता रहता था। वहां दिन-भर एक इन्द्रधनुष-सा दीखता और मैं अकारण उस फव्वारे को देखता रहता। रात को पढ़ते समय रफ कॉपी के पीछे पेंसिल से बड़े-बड़े अक्षरों में लिखना—'रजनी,' और रबर से मिटाता, फिर लिखता और फिर मिटा देता। उस समय हेम बाबू ने बंगला कक्षा में कविता की पंक्तियों की व्याख्या करने को

दी थी—

'नहीं यहां सुख, नहीं वहां सुख, क्या यह धरती केवल विषमय !'

रात को पढ़ने के कमरे में बैठकर विषमय धरती-संबंधी बातों को चट-पट लिख डाला था। सोलह साल के किशोर के लिए धरती के विषमय होने के संबंध में इतना-सा ज्ञानार्जन कर लेना कोई मामूली बात नहीं थी। शायद हेमबाबू के लिए यह भी संभव नहीं था। व्याख्या करके दुःख के भार से मैं थोड़ा-सा रोया था।

देखते-ही-देखते मेरा विषाद दूर हो गया, बाल्य-विरह उतना स्थायी नहीं हुआ। गर्मी पड़ रही थी, स्कूल सुबह जल्दी लगने लगा था। भोर में साइकिल पर सवार होकर स्कूल जाते समय मन बड़ा हलका रहता। शांत और निर्जन घाट-बाट, भोर की ठंडी हवा, निर्मल आकाश, आम के पेड़ों में लटकती हुई बौर अथवा आम्र-मंजरी और हवा से झूलते चम्पा के फूलों को देखते हुए रास्ते में जाते समय प्रातः रजनी की याद आती। दूसरे ही क्षण सोचता कि रजनी अभी भी बेसुध होकर सोई हुई है। इससे मुझे ईर्ष्या होती, किन्तु उसे अच्छी तरह समझ न पाता, आखिर मन ही मन उसे 'कुंभकर्ण का वंशधर' कहकर शांति पाता।

शाम को रजनी की बात सोचने की फुर्सत न होती थी। हम लोगों के देहाती मैदान में फुटबाल शुरू हो जाता था। दो घंटे तक समूचे मैदान में दौड़-दौड़कर जब गोधूलि में घर लौटता, तो पसीने और थकान से तन-मन बोझिल होता। नहाने के बाद पढ़ने बैठने पर बड़े जोर की नींद आती। ऊंघते-ऊंघते मैं अपना पाठ कण्ठस्थ करता, उस समय मां आकर झकझोर देती और कहती—"हाय राम, सो रहा है तू ! चल उठ, खाना खा ले।"

गर्मी की छुट्टियां हुई। चन्द्रा को लाया गया। उसके आने से स्र

भर उठा। कहने में क्या है, चन्द्रा के आ जाने से मेरा अकेलापन बिलकुल ही नहीं रहा। छोटे भाई को संगी बनाना असंभव था। बड़ों के साथ उसे नहीं रहना चाहिए, यह सोचकर मैंने उसकी उपेक्षा ही की थी। चन्द्रा के आने पर संग मिला। फुर्सत मिलने पर हम लोग लूडो और कैरम खेलते, अमचूर बनाकर खाते और चन्द्रा अपने बक्से में जिन दो-चार उपन्यासों को लाई थी, उन्हें लुक-छिपकर पढ़ते।

चन्द्रा का शरीर मानो खिल उठा था। उसकी बातचीत और चाल-ढाल से लगता जैसे, वह मुझसे बड़ी हो। मैंने सदा उसके बाल और कान खींचे थे, पीठ-पर दो-चार मुक्के भी मारे थे। लेकिन अब कान पकड़ने से वह क्षुब्ध होती और बाल पकड़कर खींचने पर कहती —'उई, दर्द होता है। मुट्ठी-भर बाल उखाड़ दिए न?' मां जी भी चन्द्रा को छेड़ने से मना करतीं। चन्द्रा अब दूसरे परिवार की है, इस सम्बन्ध में वे मुझे सतर्क कर देतीं।

इसी बीच एक दिन चन्द्रा ने मेरे साथ दोस्ती गांठी, मुझे बख्शीश में दो रुपये दिए और उसके बाद एक चिट्ठी देकर कहा—"इसे डाक-घर में जाकर डाल दो।"

चिट्ठी लिफाफे में बंद थी। उस पर शरत का पता लिखा हुआ था। मैंने कहा—"शरत् को चिट्ठी लिखती है?" जैसे उसका यह चिट्ठी लिखना उचित नहीं था।

चन्द्रा ने कहा—"तुम जाकर डाल आओ।"

"पिता जी यदि जान जाएं?"

"जान जाएं!...क्या होगा?"

क्या होगा, यह मुझे मालूम नहीं था। किन्तु मेरा अनुमान था कि 'किशोर-विवाह के नियमानुसार संभवतः यह पत्राचार निषिद्ध था।

कुछ दिनों के भीतर ही मेरे नाम से एक चिट्ठी आई। शरत्

की चिट्ठी थी । इधर उसने दो-एक चिट्ठी मुझे भेजी तो थीं, किन्तु पोस्टकार्ड में । पर यह चिट्ठी लिफाफे में थी और लिफाफे का रंग हल्का नीला था । मेरे हाथ में चिट्ठी के आने के साथ ही जैसे किसी बेतार से खबर पाकर चन्द्रा भी आ गई थी । खींचते-खींचते वह मुझे आड़ में ले गई और वहां उसने हाथ फैलाकर कहा—"चिट्ठी दो !"

चिट्ठी मेरी थी । चन्द्रा उस पर कैसे अपना अधिकार जताती थी, यह समझ नहीं सका । मैंने कहा—"मुझे लिखी है, चिट्ठी मेरी है ।"

"तुम्हारी नहीं, मेरी है । मुझे दो ।"

"वाह रे, मेरे नाम आई और तेरी होगी !"

"मेरी ही है । हम लोगों ने तय किया था कि वह तुम्हारे नाम चिट्ठी लिखेगा । नहीं तो पिता जी···।"

वह षड्यंत्र समझकर भी मैंने समझा नहीं । लिफाफा फाड़ते ही एक प्रकार की भीनी-भीनी महक वाले दो-तीन रंगीन कागज हाथ लगे । शरत् की लिखावट थी । चिट्ठी के शुरू में ही सुन्दर अक्षरों में लिखा था—प्रियतमा चन्द्रा ।

तुरन्त झपट्टा मारकर चन्द्रा ने चिट्ठी के पन्ने छीन लिये । केवल लिफाफा ही मेरे हाथ में रह गया । हाथ में चिट्ठी लेकर वह नौ-दो ग्यारह हो गई ।

चन्द्रा के सहयोग से मैंने उपन्यास पढ़ना शुरू किया था । इसलिए पत्र का रहस्य और संबोधन का तात्पर्य मैं समझ गया था । मुझे रोमांच हो आया । मन में बड़ी मीठी-सी टीस होने लगी । क्या रजनी को मैं एक चिट्ठी नहीं लिख सकता ? क्या रजनी मुझे एक चिट्ठी नहीं भेज सकती ?

शरत् तथा चन्द्रा बड़े चतुर थे । वे पत्राचार मेरी मार्फत करेंगे

और पिताजी की आंखों में धूल झोंकेंगे, यह पहले से ही तय करके उन्होंने इस काम में हाथ डाला था। किन्तु मेरे साथ तो रजनी का वैसा कुछ तय नहीं हुआ था। मेरे चिट्ठी लिखने पर रजनी के मायके के लोग क्या कहेंगे; खिल्ली उड़ाएंगे अथवा प्रचार कर देंगे—इसका क्या पता! रजनी साहस करके मुझे चिट्ठी लिख सकेगी? मेरे नाम रजनी की चिट्ठी आने पर यदि पिताजी जान जाएं? फिर मां की नज़रों से भी चिट्ठी को कैसे बचाऊंगा!

चन्द्रा के साथ गुप्त परामर्श करके मैंने एक चिट्ठी लिखने का मान लो, विचार किया। चन्द्रा अपनी भाभी को चिट्ठी लिखे। कोई भी कुछ नहीं कहेगा। चन्द्रा की चिट्ठी के भीतर में भी प्रियतमा रजनी संबोधन करते हुए एक चिट्ठी दे दूं। शरत् की भांति उतनी बातें नहीं लिखूंगा। रजनी पढ़ेगी भी नहीं, और न समझेगी ही।

रात में तीन बार मसौदा बनाने के बाद बड़े-बड़े अक्षरों में मैंने प्रियतमा रजनी को एक चिट्ठी लिखी। दूसरे दिन पूर्व-निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार चन्द्रा ने उसे लिफाफे में डाला और मैं उसे अपने हाथों डाकघर में डाल आया। मेरा कलेजा धक्-धक् कर रहा था। कहना कठिन है कि उस समय मेरे भीतर आनन्द अधिक था या भय।

चिट्ठी के जवाब की आशा में दो-तीन-चार-पांच दिन तो बाट जोहते ही बीत गए। धीरे-धीरे सप्ताह बीत गया। शरत् और चन्द्रा के पत्राचार के समय तो इतना विलम्ब नहीं होता। तब क्या रजनी को मेरी चिट्ठी नहीं मिली! अथवा चिट्ठी पाकर भी सबके सामने वह लाज से मर गई! फिर मैंने यह समझा कि रजनी को लाज-शरम कुछ है ही नहीं। एक पखवारा बीत गया, जवाब नहीं आया। धीरज

जवाब दे रहा था और भय, चिंता और आशंका मुझे घर दबा रही थी। ऐसे समय में एक दिन रजनी की चिट्ठी आई—अलग-अलग दो लिफाफे। एक पर मेरा नाम लिखा हुआ था—अनाड़ी हाथों की अंगरेजी लिखावट। नाम के नीचे लिखा हुआ था—क्लास नाइन, एम० के० एच० स्कूल। जबकि पता हम लोगों के घर का दिया हुआ था। इस तरह का दुरूह और हास्यास्पद पता रजनी के अतिरिक्त भला और कौन लिख सकता है!

लिफाफे को फाड़ते ही एक रूलदार कागज का पन्ना बाहर निकला। उसपर पेंसिल से बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा—प्रणाम शतकोटि। निवेदनमिदम् श्रीचरणेषु, मैं अच्छी हूं। तुम कैसे हो? तुम्हारी चिट्ठी दीदी ने पढ़ी है, बुआ ने पढ़ी है। उन्होंने कहा—तुम बंदर हो। तुम मुझे वैसी भद्दी बात नहीं लिखना। हाय, मुझे लाज लगती है।

यह पत्राचार-कांड स्थायी नहीं हुआ। शरत् और चन्द्रा अपने-अपने विरह का उपशमन निर्विघ्न कर रहे थे, मैं नहीं कर सकता था। इससे हम लोगों की अकिंचनता जितनी भी क्यों न प्रमाणित हो, एक क्षोभ तो मन में रह ही गया। चन्द्रा के प्रति मन में ईर्ष्या भी हुई। एक बार सोचा था कि उनके षड्यंत्र का भंडा फोड़ दूं। किन्तु बहिन के मुंह पर मुरदनी छा जाएगी—यह सोचकर मन न माना।

वर्षा उतर आई। आकाश में मेघ आख-मिचौली खेलते। घने काले नव जलधर में जब दामिनी अपनी छटा दिखाती, जब वृक्ष-लता आदि आसन्न वर्षा की प्रतीक्षा में बड़े आनन्द से हिचकोले खाते रहते तो किसी-किसी दिन मन विपण्ण हो उठता था और ऐसा होना अस्वाभाविक नहीं था। इस पर भी फिर पत्र लिखने का साहस मुझे

नहीं हुआ। स्कूल में फुटबाल का मौसम चल रहा था, मन वहीं उलझा रहता था।

स्कूल की पढ़ाई के बाद, खेल के मैदान होते हुए हाथ-पैर में चोट खा, साइकिल पर सवार होकर जब मैं घर लौटता तब वर्षा के जल से अंग-अंग तरबतर हो जाता। रात में चूना-हल्दी गरम करके एक हाथ से अंग-सेवा करता और दूसरे हाथ से अंगरेजी किताब खोलकर द 'गिफ्ट ऑफ गॉड' पढ़ता। यह भी अनुभव करता कि ईश्वर ने कृपा-पूर्वक एक बड़ी वेदनादायक वस्तु दी है। जब गरज के साथ संसार-भर को डुबाने वाली मूसलाधार वर्षा होती और झींगुर की झीं-झीं और मेढकों के टर्र-टर्र में मेरा कंठ-स्वर कहीं खो जाता, तो कंपित दीप-शिखा के सम्मुख बैठ, वर्षा के अविच्छिन्न स्वर के इन्द्रजाल में खोकर रजनी के लिए एक प्रकार की कातरता अनुभव करने लगता। सोचता, उसके मायके में यह दिगन्तव्यापी मेघ क्या नहीं बरसता है!

रथ-यात्रा के पहले दिन रजनी आई। चन्द्रा ने मुझे पूर्वाह्न में ही यह खबर दे दी थी। पिताजी मनोहर काका को भेजकर उसे लिवा लाए थे। उन्हें पुत्र-वधू को रथ-यात्रा का मेला दिखाना था। वे खुद उसे मेला ले भी गए थे।

संध्या में रजनी को देखा। पढ़ने के कमरे में चन्द्रा के साथ वह सिमटती-सहमती दबे-पांव आई। जो दो-एक दिनों के लिए रथ-यात्रा का मेला देखने आई है, उससे मेरा क्या संबंध। बंगला की किताब खोलकर गंभीर स्वर से मैं पढ़ने लगा : मन्दिर में कौन है? किसी ने भी प्रश्न का उत्तर नहीं दिया, अलंकारों की झंकार सुनाई पड़ी, तब और अधिक बोलना निरर्थक समझकर पथिक...।

चन्द्रा ने मेरी पढ़ाई में बाधा डाली और हंसते हुए कहा—"बंद करो अपनी पढ़ाई, यह लो, खाओ...!"

मैंने उधर ताका। सुस्वादु और गरम-गरम बैंगन की फुलौरी और तले हुए पापड़ की महक नाक को उत्तेजित तथा जीभ को लालायित कर रही थी। हाथ के बर्तन को चन्द्रा ने मेरे सामने रख दिया। दोनों ही नारी-रत्नों के हाथ-मुंह चल रहे थे। रजनी की ओर एक बार नजर डालकर बड़ी उपेक्षा से मैंने कहा—"मैं नहीं खाऊंगा। पढ़ने दे, तंग मत कर।"

चन्द्रा बोली—"क्या पढ़ने हो?"

"बंगला।"

"कल तो तुम्हारी छुट्टी है। लो, गरमागरम खाओ।"

बोलना बेकार समझकर मैंने पढ़ाई में मन लगाया।

चन्द्रा और रजनी में गुपचुप कोई बात हुई। चन्द्रा बोली—"बैठो, मैं आती हूं। मां चाय बना रही है, मैं लेकर आ रही हूं।"

चन्द्रा के चले जाने पर भी मैं संकल्प से नहीं डिगा। पांच बार 'मंदिर में कौन है, मंदिर में कौन है' पढ़कर मैं हठात् रुक गया। रजनी एक गरम बैंगनी उठाकर उसे मेरे गाल से छुलाकर ताप देने का उपक्रम कर रही थी। मैंने उसका हाथ ठेल दिया। चूड़ी, बाला, सांखा पहने हुए अपने हाथ से उसने मेरा मुंह धर दबाया।

"कहे देता हूं, मजाक मत करो।" झटका देकर मैंने उसका हाथ हटा दिया।

वह खिलखिलाकर हंस पड़ी। "गुस्सा हो आया है रे!"

"तुम क्यों आई हो?"

"ऊः, बहुत अच्छा किया है, जो आई हूं। यह तुम्हारा घर है? पिताजी मुझे लाए हैं।"

"तो पिताजी के पास जाओ। मुझे 'डिस्टर्ब' मत करो।"

"जैसे कितना अधिक पढ़ता है यह लड़का! सिर्फ मंदिर-मंदिर

तो करते हो।"

"मेरी खुशी, जो भी करूं, तुम्हारा क्या ?"

"मेरा कच्चू।"...कहकर उसने अपना ठेंगा दिखाया। उसके वाद कहा उसने—"तुम्हारे तो नाक पर गुस्सा रहता है।"

"तुम मेरी कोई नहीं हो।"

"जैसे कहने से ही हो गया।"

"वड़ा होकर मैं फिर व्याह करूंगा।"

"मैं भी भूतनी होकर तुम्हारी पत्नी की गर्दन मरोड़ दूंगी।"

'तुम तो भूतनी ही हो।"

"भूत की पत्नी भूतनी ही होती है।"

वातचीत में रजनी काफी वालिग थी। जमकर युद्ध हुआ नहीं। मैं हार गया। उसने मेरे मुंह में वैंगन की फुलौरी ठूंस दी। मंदिर में तिलोत्तमा प्रतीक्षा करे, अव मुझे उसके लिए कोई व्यग्रता नहीं थी।

पापड़ खाते-खाते रजनी पक्की गृहिणी की भांति वोली—"तुम्हारी वातें सोच-सोचकर मरती थी। ऐसी वर्षा होती है और कड़क-कड़ककर वज्र गिरता है, तुम निर्जन मैदान पारकर स्कूल जाते हो...क्या जानें...! वज्र गिरने पर वज्र-देव का नाम जपना।"

"वज्रदेव कौन है ?"

"मैं नहीं जानती। वुआजी कहती हैं वज्र-देव।"

"तुम एक नम्वर की झूठी हो।"

"मैं झूठी हूं ?"

"तुम मेरी वात नहीं सोचतीं।"

"यह लड़का क्या कहता है रे! कहता है, मैं इसकी नहीं सोचती—।" जैसे उसने किसी तीसरे आदमी को गवाह वनाया—

"सोच-सोचकर तो मेरी नींद हराम हो गई।"

उसके 'नींद हराम हो गई' कहने के ढंग पर मैं हंस पड़ा। वह भी हंसी। उसके कहने का ढंग हू-बहू बुजुर्गों-जैसा था। संभवतः उसने उसने मां, फूफी या दीदी की नकल की थी। फलस्वरूप मैं बिना ठठाकर हंसे रह नहीं सका।

दूसरे दिन रजनी, चन्द्रा आदि पिताजी और मनोहर काका के संग छः मील दूर रथ-यात्रा देखने गईं। मैं नहीं गया। उन लोगों के लौटने में संध्या हो गई। दिन-भर की रिमझिम तब तक मूसलाधार वर्षा का रूप धारण कर चुकी थी। आंधी और वर्षा से वे सब एक-दम भीग गए थे। रजनी ही-ही करके कांप रही थी। पढ़ने बैठने पर मैंने तन-मन-वचन से ईश्वर से प्रार्थना की थी कि उस रात रजनी को ज्वर आ जाए, ताकि उसका रानीगंज जाना सम्भव न हो सके। वह दो-एक दिनों के भीतर ही रानीगंज जाने वाली थी।

माथा पोंछ और भीगे कपड़े बदलकर रजनी मुझसे मिलने आई। उसका हाव-भाव बड़ा ही स्वाभाविक था। सिर के बाल भीगे हुए दीख रहे थे। वह आकर मेरी बगल में बैठ गई। वर्षा थमी नहीं थी। बादल गरज ही रहा था।

रजनी ने रथ-यात्रा के मेले का थोड़ा-सा विवरण दिया। मैंने चुपचाप सुना। उस मेले को मैंने बहुत बार देखा था, उसमें मेरे लिए उत्सुक होने की कोई बात नहीं थी। अंत में, पता नहीं कहां से, उसने एक फोटो निकाल कर मेरे हाथ में दिया। बोली—"मेले में फोटो खिंचाया है। चन्द्रा ने कहा था।"

मैं यह नहीं जानता था कि मेले में फोटो खींचने की दुकान लगी थी। उसका तुरन्त का खिंचा हुआ फोटो झकझक कर रहा था। फोटो का बड़ा भाग सफेद होने के बजाय काला हो गया था। मैंने

कहा—"तुम्हारे कान कहां हैं ?"

रजनी चौंक पड़ी। नहीं समझ पाने के कारण उसने अपने कानों को छूआ।

"धत्, इस फोटो में तुम्हारे कान कहां हैं ?"

मेरे हाथ से फोटो लेकर उसने बड़ी उत्सुकता से अपना चेहरा देखा। सचमुच ही उसके कान गायब थे। वह जगह बड़ी अद्भुत दीखती थी। अतिशय मर्माहत होकर वह बोली—"क्या होगा !"

"मुझे दे दो।"

"चन्द्रा ने तो यही कहा था।···न, रहने दो। कनकटा फोटो की जरूरत नहीं। देखने से ही भद्दा लगेगा।" कहकर उसने फोटो को दूर हटा लिया और आक्षेप के स्वर में कहा—"एक तो ऐसा चेहरा, उसपर कनकटी ताड़का को देखोगे तो तुम मुझे भगा दोगे।"

"कनकटी ताड़का नहीं, शूर्पनखा···।"

"जानती हूं जी, जानती हूं। मुझे सिखाने की आवश्यकता नहीं।"

"तुमने तो ताड़का कहा—।"

"ठीक किया है, कहा है। ऐसा ही हम लोग कहा करती हैं।"

रजनी की विज्ञता पर हंसते हुए उसके माथे के खुले और भींगे हुए वालों के एक गुच्छे को पकड़कर मैंने खींचा। "यह फोटो मुझे दे दो, मैं कान दिला लूंगा।"

"कैसे दिला लोगे ?"

मंतर से।"

मंतर की वात सुनकर और आंख-मुंह के हंसने का भाव देखकर मेरी वात पर उसे विश्वास नहीं हुआ। उसने कहा—"रहने दो, मेरा फोटो है, मैं ही लेती जाऊंगी।"

दूसरे दिन रजनी को ज्वर-जलन कुछ भी नहीं हुआ। विलकुल

स्वस्थ और प्रसन्नचित उसे इधर-उधर आते-जाते देखा। किसी कारण पिता जी ने उसे सप्ताह-भर के लिए रख लिया था। उसका रुकना मेरे लिए अच्छा ही हुआ। यद्यपि हम लोग शयन-कक्ष में फिर एक साथ मिल नहीं सके, तथापि दिन में एकाधिक बार हम लोगों की भेंट-मुलाकात और बातचीत हो जाती। रजनी पहले से अधिक वाक्-पटु हो गई थी। उसकी शरारत भी थोड़ी बढ़ गई थी। विशेषतः चन्द्रा के साहचर्य में वह चतुर होती जा रही थी, इसमें कोई सन्देह नहीं था।

मायके जाते समय रजनी ने करुणावश अपना फोटो मुझे दुबारा दिया और कहा—"मुंह खोलकर तुमने मांगा था न, इसीलिए दे रही हूं।"

प्रार्थना की वस्तु को इस तरह बिना कातर हुए दान करते देखकर कृतज्ञता-वश मैंने प्रतिदान के रूप में दाता के कपोल पर चुम्बन का एक मोती जड़ दिया। वह उसे ग्रहण करके दौड़कर भाग गई।

सात

वर्षा बीत गई। चन्द्रा भी कब की अपनी ससुराल चली गई थी। उसकी सास बीमार थीं। घर में मैं अकेला था। मेरा छोटा भाई अपने-आप तीन पहियेवाली साइकिल पर सवार होकर या लड़कियों वाला खेल खेलकर दिन बिताता था। मेरे साथ उसका सम्पर्क नहीं के बराबर था। देखते-ही-देखते शरत् ऋतु आ गई। हम लोगों के घर के आंगन में शेफालीगाछ में शाम को फूल खिलने लगे थे, मन उसके सुवास

से अनमना हो उठता। स्कूल जाते और लौटते समय रास्ते में मेंड़-बंधे धान-खेतों में हरियाली का समारोह देखने पर दोनों आंखें जुड़ा जातीं। शरदालोक के रूप में मानो दिगन्तव्यापी प्रसन्नता धरती पर उतर आई थी। आकाश दिन-प्रतिदिन नीलिमा और धूप से भरता जा रहा था। गांव के पूजा-मंडप में जिस दिन काठ की पुरानी ठठरी पर नया पुआल सजाया गया, उसी दिन से पूजा की गंध में मन विह्वल हो गया। पूजा के समय रजनी आएगी। कानाफूसी से मैंने ऐसा ही सुना था।

अब तक पूजा के पूर्व केवल दो वस्तुओं की कामना करता था—एक तो पूजा की छुट्टी और दूसरी माता दुर्गा का आगमन। कहने में लाज आती है कि रजनी का आगमन ही मेरे लिए उस वर्ष की अन्य सभी प्रत्याशाओं से बढ़कर आकर्षक और प्रिय था। मेरा एक कैलेंडर था, रोज सवेरे उठकर मैं उसकी तारीख को देखता और 'अब सत्ताईस' अब अट्ठाईस' कह-कहकर उस आकांक्षित दिन का हिसाब मैं मन ही मन लगाया करता।

पूजा भी आई, माता दुर्गा भी आई, किन्तु रजनी नहीं आई। माता दुर्गा ने मुझसे एक बहुत बड़ा प्रतिशोध लिया। जान सका कि रजनी के माता-पिता के, अपनी कन्या को पूजा में कुछ दिन अपने पास रखने के अनुरोध को मेरे पिताजी ने उदारतावश स्वीकार कर लिया था। यह कहे बिना भी चल सकता है कि उनकी उस उदारता ने मुझे बहुत अधिक पीड़ित और क्षुब्ध किया था।

नये कपड़े-जूते मुझे दोनों ही तरफ से मिले थे, चन्द्रा भी आ पहुंची थी, तथापि पूजा के आनन्द का अधिकांश ही मेरे लिए मिट्टी में मिल चुका था। रजनी पर क्रोध हुआ। रजनी ने जरूर रो-धोकर अपने मायके में रहना चाहा है, नहीं तो ऐसा कैसे होगा—मैंने यही

सोचा। मुझे बड़ा रोष हुआ, मैंने ठान लिया कि जो पत्नी अपने पति की अपेक्षा दूसरों को इतना अधिक मानती है उसका मुंह भी मैं नहीं देखूंगा।

पूजा समाप्त हुई। द्वादशी के दिन शरत् आया। दो-चार दिन रहकर वह लौट जाएगा। टेस्ट-परीक्षा तलवार बनकर उसकी गर्दन पर झूल रही थी। उसे तिल-भर भी विचलित होते नहीं देखा। उसे सुंघनी लेने की आदत लग गई थी। उससे उसे रात को जागकर पढ़ने-लिखने में सुविधा होती। देखा, उसके सुंघनी लेने का एक और उद्देश्य था, उससे वह चन्द्रा को एक अलक्ष्य संकेत दिया करता था। उसके बहुत अधिक छींकते ही चन्द्रा आ जाती।

शरत् और चन्द्रा की बहुत अधिक घनिष्ठता तथा उनके परस्पर के आचार-व्यवहार और हंसी-मज़ाक में जो प्यार झलकता था, उसे देख-देखकर मेरा हृदय भी एक प्रकार की शून्यता एवं रिक्तता का अनुभव करके व्याकुल हो उठता। उन लोगों की तुलना में अब अपने-आपको इतना दीन और रिक्त अनुभव करने लगा कि मैंने रजनी को सभी तरह से वधू होने के अयोग्य मान लिया।

शरत् ने कहा—"तुम तो रामचन्द्र हो, पिता की बात पर वन-वास भोगते हो।...अरे भाई, सभी नियमों का विकल्प है। बुद्धिर्यस्य उपायं तस्य।" उसकी बातें जले पर नमक जैसी लगीं।

कोजागरी (शरत् पूर्णिमा) के दिन रजनी आई। उसके पिता ने ही किसी रिश्तेदार के साथ बक्सा-पोटली-गठरी-सहित उसे भेजा था। शरत् ने मेरी चुटकी लेते हुए कहा—"तुम्हारी वाइफ, नहीं-नहीं, सिस्टर वाइफ आई है।"

मैंने उसकी बात का जवाब नहीं दिया।

आते ही रजनी ने विजया के प्रणाम की धूम मचा दी। यद्यपि

पत्र द्वारा एक बार वह यह औपचारिकता निभा चुकी थी। मैं जानता था कि उसका प्रणाम पाने का न्यायोचित अधिकार मेरा है। मां उसे मेरे पास भेजेंगी। रजनी मुझे प्रणाम करने का सुयोग न पाए और जिससे यह समझ सके कि मैं उसकी परवाह नहीं करता और न उसकी बाट जोहते भिखारी की तरह बैठा था, इसलिए उसके इधर आने के पहले ही मैं घर से निकल पड़ा था।

घर से निकल पड़ने पर भी शांति नहीं थी। अभिमान और क्षोभ के मारे हृदय जल रहा था। कार्तिक मास की मनोहर सुबह मेरी दृष्टि में सूनी-सूनी-सी लगी। अनगिनत कांस-फूल लहरा रहे थे। खेतों में धान की हल्की-पीली फुनगी जब हवा के झोंके से सी-सी करती हुई झूम-झूम उठती थी उस समय लगता था जैसे पूरे मैदान में इस छोर से उस छोर तक एक पीली लहर दौड़ गई। लगता था, जैसे एक हल्की पीली चादर पूरे मैदान में बिछी हुई थी, जो हवा में लहराती रहती थी। धूप में सरोवर के जल में कुमुदिनी के पत्ते चमक रहे थे, किन्तु इन सबका सौंदर्य मेरी दृष्टि में निस्सार प्रतीत हुआ।

देर से घर लौटा मैं। घर में लक्ष्मी-पूजा थी। माता जी अनेक प्रकार के आयोजनों में व्यस्त थीं। चन्द्रा और रजनी भी उनके पीछे-पीछे घूम रही थीं। शरत् अकेला कमरे में बैठा उपन्यास पढ़ रहा था। मुझे देखकर शरत् हंसा और बोला—"कहां भाग गए थे? तुम्हारी रजनी कितनी बार तुम्हें खोज गई है। हाय, बेचारी का मुंह सूख गया है।"

"एक आदमी के पास गया था।" उदासीन कंठ से एक संक्षिप्त जवाब देकर मैं नहाने चला गया।

नहाते-नहाते मैं यह सोच रहा था कि शरत् ने मेरे साथ मज़ाक

किया है या सचमुच रजनी ने मुझे देख पाने की प्रत्याशा में मेरी खोज की थी।

शरत् और मैं जब खाने बैठे तो चन्द्रा और रजनी दीख पड़ी। मां पूजा के काम में व्यस्त थी, इसलिए इधर नहीं आ सकीं। चन्द्रा ने गृहिणी का काम सभाला था और रजनी नमक, पानी आदि बढ़ाकर सहायता करती थी। रजनी से जब मेरी आंखें चार हुईं तो उसकी दृष्टि में सकोच अथवा अपराध-बोध नहीं दिखाई पड़ा। वह मुझे प्रणाम करने भी नहीं आई।

खाते समय शरत् ने तरह-तरह की चुटकी ली और चन्द्रा ने निर्लज की भांति उसमें हाथ बटाया। यहा तक कि रजनी ने भी चुन-चुनकर बातें सुनाईं। मैं खूब गंभीर बना रहा। अच्छी तरह खाया नहीं मैंने। सब तरह से क्रोध प्रकट करने चेष्टा की।

मध्याह्न में शरत् सो रहा था। मैं अपने पढ़ाई के कमरे में चटाई बिछाकर इधर-उधर की सोचते-सोचते जाने कब सो गया था। कैसी एक सिहरन हुई, उससे बचने के लिए हिलने-डुलने के कारण मेरी नींद टूट गई। देखा, रजनी अपने आंचल के छोर को पतला ऐंठ कर उससे मेरे नाक-कान को गुद-गुदा रही थी। मेरे जाग उठने पर वह मुंह दबाकर हंसने लगी।

मैं उठकर बैठ तो गया, किन्तु मैंने बात नहीं की।

मजाक करती हुई रजनी अपनी गर्दन को कभी इधर, कभी उधर घुमाती हुई मेरा मुह झांकने लगी। उसके बाद बोली—"अपनी थाली मे पड़ें तो खूब खाओ, दूसरे की थाली में पड़े तो रूठ जाओ।"

उसकी बात का अर्थ समझ नहीं सका, समझने की चेष्टा भी नहीं की, मैंने मुंह घुमा लिया। माथे की ओर खिड़की खुली थी, छाया उतर आई थी, निकट ही नीमगाछ के नीचे मेरे छोटे भाई का झूला झूल

रहा था।

मेरी नीरवता रजनी के लिए असह्य हो उठी। खप से उसने मेरा पहुंचा पकड़कर झटके से खींचा और कहा—"इतना क्रोध किस लिए ?···ऐ गूंगे, बहरे ! सुनते हो या सुन भी नहीं सकते ?"

एक झटका देकर मैंने अपना हाथ छुड़ा लिया। रजनी थोड़ी देर जैसे विमूढ़ की तरह बैठी रही। उसके बाद ही उसने एक अद्भुत कांड किया। झपटकर वह मेरे शरीर को नोचने लगी। मेरे बाल खींचने लगी और बाद में फफक-फफककर रो पड़ी। रोते-रोते उसने कितना कुछ कहा, उसकी हद नहीं। क्रोध, अभिमान, क्षोभ और अपमान—इन सभी बोध-शक्तियों के एक साथ मिल जाने से शायद उसका दिमाग खराब हो गया था। वह एकदम बालिका ही थी।

रजनी की बातों से समझ सका कि पूजा के समय यहां आने की उसकी तो प्रबल इच्छा थी, किन्तु उसके माता-पिता चाहते थे कि वह उनके पास रहे। वह कैसे अपने माता-पिता से कहती कि वे उसे उसके दूल्हे के पास भेज दें। आखिर, मनुष्य में लाज नाम की चीज भी तो होती है।

मेरे मन का अभिमान और क्रोध उसी तरह उतर गया जिस तरह ज्वर उतर जाता है। रजनी के नोचने से मुझे जो जलन हो रही थी, उसे सहते-सहलाते मैंने कहा—"तो इसके लिए तुम मेरे सिर के बाल नोच लोगी ? नोच-नोचकर तुमने मेरा खून निकाल दिया है।"

"मैं तुम्हें और नोचूंगी। काट खाऊंगी।"

"तुम क्या हो, कुतिया या बिल्ली ?"

"कुतिया ! कुतिया नहीं होती तो क्या तुम्हारे ऐसा व्यवहार करने पर भी मैं तुम्हारे पास आती !"

"तुम्हारे कारण मेरी पूजा बेकार गई।"

"वाह रे, और मेरी···?"

"तुम तो मजे में ही थीं।"

"हूं, मजे में थी, कहने से ही हो गया।" बड़े उदास स्वर से रजनी ने कहा। दूसरे ही क्षण उसे कुछ याद हो आया, बोली—"अपने घर की लड़की को लाकर अपने पास रख सकते हो और यदि मैं अपने मां-बाप के पास रह गई तो दोषी हो गई। चन्द्रा ने मुझसे कहा है कि अगले वर्ष वह नहीं आएगी।"

"तुम?"

रजनी कुछ कहना चाहती थी, किन्तु कह नहीं सकी, रुक गई। उसके थोड़ी देर बाद आंख-मुंह को गंभीर बनाकर आंचल से आंसू पोंछते-पोंछते बोली—"यह बाद की बात है। इसके बारे में पीछे सोचूंगी।"

बड़े-बूढ़े जैसी उसकी बातों को सुनकर उसे दुलारने की इच्छा हुई। उसके गाल को दबाते हुए मैंने कहा—"भूतनी कहीं की!"

उस दिन कोजागरी पूर्णिमा में अधिक रात होने पर हम लोगों ने अभिसार किया था। अवसर और सुविधा के अनुसार हम दोनों ही छिपकर अपने घर के पिछवाड़े चले गए थे और वहां चांदनी में खड़े-खड़े हमलोगों ने बहुत-सी बातें की थीं। मेरे कमरे में शरत् से मिलने चन्द्रा आई थी। यह तय हुआ था कि शरत् के कई बार सीटी बजाने पर मैं उसकी बगल में जा लेटूंगा और रजनी चन्द्रा की बगल में। यह बुद्धि भी शरत् ने ही दी थी।···

पूर्णिमा की दूधिया चांदनी में अपने-आपको छिपाते हुए खड़े रजनी से मेरी बहुत-सी बातें हुई थीं। उन बातों को बताने की जरूरत नहीं। केलेगाछ के नीचे कोजागरी पूर्णिमा के उजाले में सुध-बुध खोकर खड़े रहते रजनी एक बार बोली—"तुम्हारे लिए मैं छिपाकर

रहा था।

मेरी नीरवता रजनी के लिए असह्य हो उठी। खप से उसने मेरा पहुंचा पकड़कर झटके से खींचा और कहा—"इतना क्रोध किस लिए ?···ऐ गूंगे, बहरे ! सुनते हो या सुन भी नहीं सकते ?"

एक झटका देकर मैंने अपना हाथ छुड़ा लिया। रजनी थोड़ी देर जैसे विमूढ़ की तरह बैठी रही। उसके बाद ही उसने एक अद्भुत कांड किया। झपटकर वह मेरे शरीर को नोचने लगी। मेरे बाल खींचने लगी और बाद में फफक-फफककर रो पड़ी। रोते-रोते उसने कितना कुछ कहा, उसकी हद नहीं। क्रोध, अभिमान, क्षोभ और अपमान—इन सभी बोध-शक्तियों के एक साथ मिल जाने से शायद उसका दिमाग खराब हो गया था। वह एकदम बालिका ही थी।

रजनी की बातों से समझ सका कि पूजा के समय यहां आने की उसकी तो प्रबल इच्छा थी, किन्तु उसके माता-पिता चाहते थे कि वह उनके पास रहे। वह कैसे अपने माता-पिता से कहती कि वे उसे उसके दूल्हे के पास भेज दें। आखिर, मनुष्य में लाज नाम की चीज भी तो होती है।

मेरे मन का अभिमान और क्रोध उसी तरह उतर गया जिस तरह ज्वर उतर जाता है। रजनी के नोचने से मुझे जो जलन हो रही थी, उसे सहते-सहलाते मैंने कहा—"तो इसके लिए तुम मेरे सिर के बाल नोच लोगी ? नोच-नोचकर तुमने मेरा खून निकाल दिया है।"

"मैं तुम्हें और नोचूंगी। काट खाऊंगी।"

"तुम क्या हो, कुतिया या बिल्ली ?"

"कुतिया ! कुतिया नहीं होती तो क्या तुम्हारे ऐसा व्यवहार करने पर भी मैं तुम्हारे पास आती !"

"तुम्हारे कारण मेरी पूजा बेकार गई।"

"वाह रे, और मेरी···?"

"तुम तो मजे में ही थी।"

"हूं, मजे में थी, कहने से ही हो गया।" बड़े उदास स्वर से रजनी ने कहा। दूसरे ही क्षण उसे कुछ याद हो आया, बोली—"अपने घर की लड़की को लाकर अपने पास रख सकते हो और यदि मैं अपने मां-बाप के पास रह गई तो दोषी हो गई! चन्द्रा ने मुझसे कहा है कि अगले वर्ष वह नहीं आएगी।"

"तुम?"

रजनी कुछ कहना चाहती थी, किन्तु कह नहीं सकी, रुक गई। उसके थोड़ी देर बाद आंख-मुंह को गंभीर बनाकर आंचल से आंसू पोंछते-पोंछते बोली—"यह बाद की बात है। इसके बारे में पीछे सोचूंगी।"

बड़े-बूढ़े जैसी उसकी बातों को सुनकर उसे दुलारने की इच्छा हुई। उसके गाल को दबाते हुए मैंने कहा—"भूतनी कहीं की!"

उस दिन कोजागरी पूर्णिमा में अधिक रात होने पर हम लोगों ने अभिसार किया था। अवसर और सुविधा के अनुसार हम दोनों ही छिपकर अपने घर के पिछवाड़े चले गए थे और वहां चांदनी में खड़े-खड़े हमलोगों ने बहुत-सी बातें की थीं। मेरे कमरे में शरत् से मिलने चन्द्रा आई थी। यह तय हुआ था कि शरत् के कई बार सीटी बजाने पर मैं उसकी बगल में जा लेटूंगा और रजनी चन्द्रा की बगल में। यह बुद्धि भी शरत् ने ही दी थी।···

पूर्णिमा की दूधिया चांदनी में अपने-आपको छिपाते हुए खड़े रजनी से मेरी बहुत-सी बातें हुई थी। उन बातों को बताने की जरूरत नहीं। केलेगाछ के नीचे कोजागरी पूर्णिमा के उजाले में सुध-बुध खोकर खड़े रहते रजनी एक बार बोली—"तुम्हारे लिए मैं छिपकर

रहा था।

मेरी नीरवता रजनी के लिए असह्य हो उठी। खप से उसने मेरा पहुंचा पकड़कर झटके से खींचा और कहा—"इतना क्रोध किस लिए ?···ऐ गूंगे, वहरे ! सुनते हो या सुन भी नहीं सकते ?"

एक झटका देकर मैंने अपना हाथ छुड़ा लिया। रजनी थोड़ी देर जैसे विमूढ़ की तरह वैठी रही। उसके वाद ही उसने एक अद्‌भुत कांड किया। झपटकर वह मेरे शरीर को नोचने लगी। मेरे वाल खींचने लगी और वाद में फफक-फफककर रो पड़ी। रोते-रोते उसने कितना कुछ कहा, उसकी हद नहीं। क्रोध, अभिमान, क्षोभ और अपमान—इन सभी वोध-शक्तियों के एक साथ मिल जाने से शायद उसका दिमाग खराव हो गया था। वह एकदम वालिका ही थी।

रजनी की वातों से समझ सका कि पूजा के समय यहां आने की उसकी तो प्रवल इच्छा थी, किन्तु उसके माता-पिता चाहते थे कि वह उनके पास रहे। वह कैसे अपने माता-पिता से कहती कि वे उसे उसके दूल्हे के पास भेज दें। आखिर, मनुष्य में लाज नाम की चीज भी तो होती है।

मेरे मन का अभिमान और क्रोध उसी तरह उतर गया जिस तरह ज्वर उतर जाता है। रजनी के नोचने से मुझे जो जलन हो रही थी, उसे सहते-सहलाते मैंने कहा—"तो इसके लिए तुम मेरे सिर के वाल नोच लोगी ? नोच-नोचकर तुमने मेरा खून निकाल दिया है।"

"मैं तुम्हें और नोचूंगी। काट खाऊंगी।"

"तुम क्या हो, कुतिया या विल्ली ?"

"कुतिया ! कुतिया नहीं होती तो क्या तुम्हारे ऐसा व्यवहार करने पर भी मैं तुम्हारे पास आती !"

"तुम्हारे कारण मेरी पूजा वेकार गई।"

"वाह रे, और मेरी…?"

"तुम तो मजे में ही थी।"

"हूं, मजे में थी, कहने से ही हो गया।" बड़े उदास स्वर से रजनी ने कहा। दूसरे ही क्षण उसे कुछ याद हो आया, बोली—"अपने घर की लड़की को लाकर अपने पास रख सकते हो और यदि मैं अपने मा-बाप के पास रह गई तो दोषी हो गई। चन्द्रा ने मुझसे कहा है कि अगले वर्ष वह नहीं आएगी।"

"तुम?"

रजनी कुछ कहना चाहती थी, किन्तु कह नहीं सकी, रुक गई। उसके थोड़ी देर बाद आख-मुंह को गंभीर बनाकर आंचल से आंसू पोंछते-पोंछते बोली—"यह बाद की बात है। इसके बारे में पीछे सोचूंगी।"

बड़े-बूढ़े जैसी उसकी बातों को सुनकर उसे दुलारने की इच्छा हुई। उसके गाल को दबाते हुए मैंने कहा—"भुतनी कहीं की!"

उस दिन कोजागरी पूर्णिमा में अधिक रात होने पर हम लोगों ने अभिसार किया था। अवसर और सुविधा के अनुसार हम दोनों ही छिपकर अपने घर के पिछवाड़े चले गए थे और वहां चांदनी में खड़े-खड़े हमलोगों ने बहुत-सी बातें की थी। मेरे कमरे में शरत् से मिलने चन्द्रा आई थी। यह तय हुआ था कि शरत् के कई बार सीटी बजाने पर मैं उसकी बगल में जा लेटूंगा और रजनी चन्द्रा की बगल में। यह बुद्धि भी शरत् ने ही दी थी।…

पूर्णिमा की दूधिया चांदनी में अपने-आपको छिपाते हुए खड़े रजनी से मेरी बहुत-सी बातें हुई थी। उन बातों को बताने की जरूरत नहीं। केलेगाछ के नीचे कोजागरी पूर्णिमा के उजाले में सुध-बुध खोकर खड़े रहते रजनी एक बार बोली—"तुम्हारे लिए मैं छिपकर

कितना रोती हूं, सो जानते हो ?"

"मैं भी रोता हूं।"

कहकर हम दोनों ने एक-दूसरे की नज़रों में नज़रें डाल दीं। केले के पत्ते रूपी मौर को माथे पर पहनकर मानो हम दोनों शुभ-दृष्टि का विधान पूरा कर रहे थे। हम दोनों हंस पड़े। मुझपर अपना शरीर टेकती हुई वह वोली—"झूठे कहीं के !"

आठ

देखते ही देखते ढाई वर्ष वीत गए। समय नदी के स्रोत जैसा है, यह कथन यथार्थ ही है। मैं मेट्रिकुलेशन परीक्षा दे चुका था। इस वीच मुझमें कुछ परिवर्तन आ गए थे, जैसे कि मेरी मूंछों की रेखाएं घनी हो गई थीं, मैं छोटे-छोटे वाल रखने लगा था जिससे कि दस लोगों के वीच वैठ सकूं, यहां तक कि मेरी वेश-भूषा में भी चमक-दमक आ गई थी। अव पिता जी मेरी इच्छा में वाधा नहीं डालते थे। वल्कि जिस परिश्रम से पढ़ाई-लिखाई करके मैंने परीक्षा दी थी, उससे वे संतुष्ट हुए थे। मेरे प्राइवेट ट्यूटर भुवन वावू ने पिता जी से कहा था कि परीक्षा में मेरे उत्तीर्ण होने के संवंध में उन्हें चिंता नहीं करनी होगी। वस्तुतः मुझे भी इस संवंध में न कोई चिंता थी, न घवराहट।

मैं वांकुड़ा कालेज में पढ़ने का सपना देख रहा था। शरत् वहीं पढ़ता था। जव से उससे उस कालेज की वातें सुनी थीं, तभी से उस कालेज में पढ़ने की इच्छा हो रही थी। यह भी मैंने सुना था कि पिता

जो मुझे कालेज भेजेंगे। उधर प्रभात भैया ने भी लोभ दिखाते हुए मुझे लिखा था कि अपनी मैट्रिक परीक्षा के बाद मैं बर्दवान में ही पढ़ूं। उन्होंने लिखा था—"छोटे बाबू! यदि तुम बर्दवान मे अपनी पढ़ाई-लिखाई करो तो मैं तुम्हारा सब भार ले लूंगा। यहां तक कि चीनी को भी एक-दो महीने यहा रख सकता हूं। उससे तुम्हारी पढ़ाई-लिखाई दूनी होगी।"...वर्धमान और बांकुड़ा के बारे में मेरे असमजस होने पर भी मैं यह जानता था कि इस सबध में मुझे कुछ नही करना है। पिता जी जो करेंगे वही होगा।

मैट्रिक परीक्षा के बाद पर्याप्त समय था। मन का बोझ उतर जाने से जी हल्का लगता था। मन पर वहाँ कोई बोझ नही था। कुछ दिन तो केवल सोकर बिताए। उसके बाद चन्द्रा को लिवा लाने उसकी ससुराल गया था। पिता जी ने मुझे भेजा था।

देखते ही देखते सब कुछ कितना बदल जाता है। गत दो-ढाई वर्षों में चन्द्रा में इतना परिवर्तन हो गया था, इसके पहले इस ओर मेरी नजर ही नहीं गई थी। उम्र के बढने के साथ ही उसकी देह में उभार आ गया था। और मुंह पर लावण्य छा गया था। उसे देखने से ऐसा प्रतीत होता था मानो वर्षा की बूंदो से कोई पत्ता पुष्ट हो गया हो। उसकी चपलता में अब उसका बचपना नजर नही आता था। उसकी चाल-ढाल मे गौरव और आनन्द का भाव निखर उठा था। अब वह पहले जैसी बात भी नहीं बोलती। उसके गले का स्वर कुछ भारी हो उठा था और पलकों पर और अधिक मधुरता छा गई थी। न जाने क्यों, उसे देखते ही मेरा अन्तर्मन मधुर हो उठा।

बार-बार मुझे रजनी की याद आ रही थी। गत वर्ष पूजा के समय ही उसे देखा था। उसके बाद उससे भेंट नहीं हुई थी। उस समय पूर्ण षोडशी रजनी के उभार पर मेरी नजर पड़ी थी। उस—

डील-डौल बढ़ गया था, अंग-अंग सुडौल हो उठा था और शरीर का रंग भी पहले से साफ लगता था। न जाने, इन्हीं छः-सात महीनों में उसमें कितना परिवर्तन हो गया होगा ? उसके नाम एक चिट्ठी लिखने की इच्छा हुई, पर मैं लिख नहीं सका।

मेरे ससुर जी कुछ घुमक्कड़ स्वभाव के थे। तीर्थाटन का उनमें बड़ा झोंक था। वैसा झोंक दूसरों में मुझे नज़र नहीं आता। बेहिचक अपनी डिस्पेंसरी का भार अपने कंपाउंडर के हाथों सौंपकर वे तीर्थाटन को निकल पड़ते। वे सीधे-सादे स्वभाव के थे। रुपये-पैसे की भी अधिक चिंता उन्हें नहीं थी। सुना था कि ससुर जी अपनी पत्नी, पुत्री आदि को लेकर हरिद्वार की ओर निकल पड़े थे। पिता जी इसे अच्छी तरह जानते थे, किन्तु उनसे पूछा तो नहीं जा सकता था।

मेरे वास्ते चन्द्रा खबर ले आई थी। मैंने सुना कि रजनी जल्दी ही लौटेगी और लौटते ही वह यहां आएगी।

चन्द्रा बोली—"अब तो तुम्हारे पौ बारह हैं।"

"क्यों ?"

"अब की बार आकर रजनी शायद यहीं रहेगी !'

"किसने कहा ?"

"मां कह रही थीं।"

"जा, जा, यह घर तेरी ससुराल तो नहीं है कि घर की वहू को लाकर रखेगा !"

"अबकी रखेगा, देख लेना।···फिर भी, रखने से तुम्हारा क्या ! तुम तो रहोगे नहीं, रजनी रहेगी—।" कहकर चन्द्रा मुंह दबाकर हंसी, फिर कृत्रिम दीर्घ निःश्वास छोड़कर बोली—"बेल पके भी तो कौए का क्या।"

बात तो सही थी फिर भी रजनी के आगमन के संवाद से आह्ला-

दित होकर मैं बोला—"तू रजनी-रजनी कह रही है, भाभी नहीं कह सकती ?" मुंह दबाकर चन्द्रा हंसी। बोली—"तुम्हारी अभी से ही इतनी साध..."मेरा मन अतिशय प्रफुल्लित हो उठा था। थोड़ा-सा खिल-खिलाकर मैंने कहा;

"तेरी भी तो कुछ कम नहीं।"

जैसे सहसा उसे लाज हो आई, वह रुकी नहीं, भाग गई।

फागुन बीत गया। चैत आया। चैत भी बीतने को आया। मेरे फुरसत के दिन घूमने-फिरने, सोने और उपन्यास पढ़ने में कटते थे। पिता जी के कमरे में बंकिम, नवीन से लेकर प्रभात कुमार तक की बहुतसी पुरानी ग्रंथावलियां थी। मासिक पत्रिका भी आती थी। पहले वे सब मेरे लिए निषिद्ध थे। अब मुझपर रोक नहीं थी। अब कोई कुछ नहीं कहता था। अब मैं उन्हें पढ़ता था। कभी-कभी जब अपने सहपाठियों से मिलने जाता तो उनके यहां से भी किताबें लाता। मेरे सहपाठियों की भी मेरी जैसी हालत थी। वे भी खाते, घूमते, अड्डे-बाजी करते और उपन्यास पढ़ते।

खबर मिली कि रजनी लौट आई है। उसके बाद से ही मैं चातक की भांति प्रतीक्षा करने लगा।

उस दिन अपराह्न में मैं घर पर नहीं था। स्कूल-मैदान में फुट-बाल मैच देखने गया था। दिन उमस-भरा था। दिन ढलने के साथ ही हवा रुक गई थी, अंधेरा-सा हो गया था। अपराह्न के बीतते ही आकाश-पट पर कालवैशाखी की मूर्ति स्पष्ट दीख पड़ी। मैं जल्दी-जल्दी घर लौट रहा था। मैदान में था तभी कालवैसाखी (झंझा) आ गई थी। आकाश काला हो उठा और देखते ही देखते आकाश की नीलिमा कसौटी जैसी होकर जम-सी गई। हवा चलने लगी। साइकिल चलाना कठिन हो गया। मैं जी-जान से भागा। घर के पास आते ह

देखा कि पेड़-पौधे और घाट-बाट को छिन्न-भिन्न करती हुई काल वैशाखी आ चुकी थी।

अंधड़ बहुत-सी चीज़ों को देर तक छिन्न-भिन्न करती रही। वर्षा हो रही थी। मूसलाधार वर्षा के साथ अंधड़ का गर्जन मानो इर्द-गिर्द हुंकार करता घूम रहा था। देखते-देखते हम लोगों के चारों ओर घने अन्धकार में डूबी तथा वर्षा-मुखर रात उतर आई। लगा कि जैसे हम लोग किसी निर्जन और शून्य द्वीप के बीच आ गए हैं।

चन्द्रा ने आकर कहा—"तुम्हारे लिए एक बुरी खबर है।"

"बुरी खबर! क्या परीक्षा के बारे में? असंभव। क्या खबर है?"

"रजनी नहीं आएगी।"

मेरी रोज़-रोज़ की आशा पर सहसा पानी फिर गया। हृदय सूनासा लगा और मन जैसे बोझिल हो उठा। रजनी के प्रति भयंकर आक्रोश और रोष हुआ। कलेजा मुंह को आ रहा था।

मेरे मुंह के भाव को देखकर चन्द्रा ने सहानुभूति जताई या सच कहा, पता नहीं। उसने कहा—"तुम्हारे लिए एक अच्छी खबर भी है।"

चन्द्रा क्या मुझसे मज़ाक कर रही थी। विरक्त होकर मैंने उसकी ओर ताका। मैं कुछ कहने ही जा रहा था कि उसने बाधा दी। वह बोली—"रजनी नहीं आएगी। उसके पिता का पैर टूट गया है। वे बिस्तर पर पड़े हैं। तुम्हें आने को लिखा है। तुम वहां दो-तीन के लिए जाओगे।"

मेरे ससुर सात घाटों का पानी पीते हुए तीर्थाटन करते रहे। तब उनका पैर नहीं टूटा। घर लौटकर जब बेटी को भेजने का समय आया तो पैर तोड़ बैठे—यह मेरे भाग्य का दोष था। शायद उस चरम दुःख की घड़ी में मैंने सोचा होगा कि उनका पैर टूटना मेरा दिल

टूटना था।

पिता जी की आज्ञा से मैं दो-तीन दिनों के लिए ससुराल गया। जाते समय मन को समझाया कि दूसरे पर आफत आई हो तो उसपर क्रोध नहीं करना चाहिए। इसमें रजनी का क्या दोष, दोष तो मेरे भाग्य का है। यह तो मैं बाकुड़ा जाने के पूर्व रजनी से मिलने जा रहा हूं, यदि इतना भी नहीं होता तो! यह सोचकर ही दूसरे के दुःख से मन द्रवित हो गया और रजनी के साथ दो-तीन दिनों तक रह सकूंगा —यह सोचकर ही मन-मयूर नाच उठा।

ब्याह के बाद पहली बार रानीगंज आया था। इस बार वहां नलिनी दीदी नहीं थीं। तीर्थ से लौटने के बाद वे बर्दवान चली गई थीं। बस, वहां रजनी थी, सो थी ही।

रात में रजनी मेरे पास आई। कमरे में टेबल-लैम्प जल रहा था। दरवाज़ा बंद करके वह निकट आई। उसके मुख-मंडल पर एक स्निग्ध, आनन्दमय हंसी थी।

"महाशय, कैसे हो?" वह बिछावन के पास आ खड़ी हुई। बायें हाथ से उसने कंधे पर साड़ी को थोड़ा और नीचे खींच लिया। यथा-रीति उसके मुह में पान था।

रजनी की ओर निहारते ही लगा कि मेरी बालिका वधू अब तरुणी हो चुकी है।

उसके माथे के खोंपे, बालों के गुच्छे, गले की गठन, आंख-मुंह के भाव, हाथ, देह सब पर एक नवीनता की श्री तथा लावण्य छा गया था। इसके पहले जैसे मैंने कभी न समझा था, न देखा था कि रजनी इतनी सुन्दर है। मैं अपलक मुग्ध नेत्रों से उसे निहार रहा था।

अपने रूप-सौंदर्य पर मुझे अभिभूत होता देखा तथा मेरी मनो-दशा को समझकर उसने कौतुक का अनुभव किया। बोली—'क्या देख

देखा कि पेड़-पौधे और घाट-वाट को छिन्न-भिन्न करती हुई काल वैशाखी आ चुकी थी ।

अंधड़ बहुत-सी चीजों को देर तक छिन्न-भिन्न करती रही । वर्षा हो रही थी । मूसलाधार वर्षा के साथ अंधड़ का गर्जन मानो इर्द-गिर्द हुंकार करता घूम रहा था । देखते-देखते हम लोगों के चारों ओर घने अन्धकार में डूबी तथा वर्षा-मुखर रात उतर आई । लगा कि जैसे हम लोग किसी निर्जन और शून्य द्वीप के बीच आ गए हैं ।

चन्द्रा ने आकर कहा—"तुम्हारे लिए एक बुरी खबर है ।"

"बुरी खबर ! क्या परीक्षा के बारे में ? असंभव । क्या खबर है ?"

"रजनी नहीं आएगी ।"

मेरी रोज़-रोज़ की आशा पर सहसा पानी फिर गया । हृदय सूनासा लगा और मन जैसे बोझिल हो उठा । रजनी के प्रति भयंकर आक्रोश और रोष हुआ । कलेजा मुंह को आ रहा था ।

मेरे मुंह के भाव को देखकर चन्द्रा ने सहानुभूति जताई या सच कहा, पता नहीं । उसने कहा—"तुम्हारे लिए एक अच्छी खबर भी है ।"

चन्द्रा क्या मुझसे मजाक कर रही थी । विरक्त होकर मैंने उसकी ओर ताका । मैं कुछ कहने ही जा रहा था कि उसने बाधा दी । वह बोली—"रजनी नहीं आएगी । उसके पिता का पैर टूट गया है । वे बिस्तर पर पड़े हैं । तुम्हें आने को लिखा है । तुम वहां दो-तीन के लिए जाओगे ।"

मेरे ससुर सात घाटों का पानी पीते हुए तीर्थाटन करते रहे । तब उनका पैर नहीं टूटा । घर लौटकर जब बेटी को भेजने का समय आया तो पैर तोड़ बैठे—यह मेरे भाग्य का दोष था । शायद उस चरम दुःख की घड़ी में मैंने सोचा होगा कि उनका पैर टूटना मेरा दिल

टूटना था।

पिता जी की आज्ञा से मैं दो-तीन दिनों के लिए ससुराल गया। जाते समय मन को समझाया कि दूसरे पर आफत आई हो तो उसपर क्रोध नहीं करना चाहिए। इसमें रजनी का क्या दोष, दोष तो मेरे भाग्य का है। यह तो मैं बांकुड़ा जाने के पूर्व रजनी से मिलने जा रहा हूं, यदि इतना भी नहीं होता तो ! यह सोचकर ही दूसरे के दुःख से मन द्रवित हो गया और रजनी के साथ दो-तीन दिनों तक रह सकूंगा —यह सोचकर ही मन-मयूर नाच उठा।

ब्याह के बाद पहली बार रानीगंज आया था। इस बार वहां नलिनी दीदी नहीं थीं। तीर्थ से लौटने के बाद वे वर्दवान चली गई थीं। बस, वहां रजनी थी, सो थी ही।

रात में रजनी मेरे पास आई। कमरे में टेबल-लैम्प जल रहा था। दरवाजा बंद करके वह निकट आई। उसके मुख-मंडल पर एक स्निग्ध, आनन्दमय हंसी थी।

"महाशय, कैसे हो?" वह बिछावन के पास आ खड़ी हुई। बायें हाथ से उसने कंधे पर साड़ी को थोड़ा और नीचे खींच लिया। यथा-रीति उसके मुंह में पान था।

रजनी की ओर निहारते ही लगा कि मेरी बालिका वधू अब तरुणी हो चुकी है।

उसके माथे के खोंपे, बालों के गुच्छे, गले की गठन, आंख-मुंह के भाव, हाथ, देह सब पर एक नवीनता की श्री तथा लावण्य छा गया था। इसके पहले जैसे मैंने कभी न समझा था, न देखा था कि रजनी इतनी सुन्दर है। मैं अपलक मुग्ध नेत्रों से उसे निहार रहा था।

अपने रूप-सौंदर्य पर मुझे अभिभूत होता देखा तथा मेरी मनो-दशा को समझकर उसने कौतुक का अनुभव किया। बोली—' क्या देख

देखा कि पेड़-पौधे और घाट-बाट को छिन्न-भिन्न करती हुई काल वैशाखी आ चुकी थी।

अंधड़ बहुत-सी चीजों को देर तक छिन्न-भिन्न करती रही। वर्षा हो रही थी। मूसलाधार वर्षा के साथ अंधड़ का गर्जन मानो इर्द-गिर्द हुंकार करता घूम रहा था। देखते-देखते हम लोगों के चारों ओर घने अन्धकार में डूबी तथा वर्षा-मुखर रात उतर आई। लगा कि जैसे हम लोग किसी निर्जन और शून्य द्वीप के बीच आ गए हैं।

चन्द्रा ने आकर कहा—"तुम्हारे लिए एक बुरी खबर है।"

"बुरी खबर! क्या परीक्षा के बारे में? असंभव। क्या खबर है?"

"रजनी नहीं आएगी।"

मेरी रोज-रोज की आशा पर सहसा पानी फिर गया। हृदय सूनासा लगा और मन जैसे बोझिल हो उठा। रजनी के प्रति भयंकर आक्रोश और रोष हुआ। कलेजा मुंह को आ रहा था।

मेरे मुंह के भाव को देखकर चन्द्रा ने सहानुभूति जताई या सच कहा, पता नहीं। उसने कहा—"तुम्हारे लिए एक अच्छी खबर भी है।"

चन्द्रा क्या मुझसे मज़ाक कर रही थी। विरक्त होकर मैंने उसकी ओर ताका। मैं कुछ कहने ही जा रहा था कि उसने बाधा दी। वह बोली—"रजनी नहीं आएगी। उसके पिता का पैर टूट गया है। वे बिस्तर पर पड़े हैं। तुम्हें आने को लिखा है। तुम वहां दो-तीन के लिए जाओगे।"

मेरे ससुर सात घाटों का पानी पीते हुए तीर्थाटन करते रहे। तब उनका पैर नहीं टूटा। घर लौटकर जब बेटी को भेजने का समय आया तो पैर तोड़ बैठे—यह मेरे भाग्य का दोष था। शायद उस चरम दुःख की घड़ी में मैंने सोचा होगा कि उनका पैर टूटना मेरा दिल

टूटना था।

पिता जी की आज्ञा से मैं दो-तीन दिनों के लिए ससुराल गया। जाते समय मन को समझाया कि दूसरे पर आफत आई हो तो उसपर क्रोध नहीं करना चाहिए। इसमें रजनी का क्या दोष, दोष तो मेरे भाग्य का है। यह तो मैं बाकुड़ा जाने के पूर्व रजनी से मिलने जा रहा हूं, यदि इतना भी नहीं होता तो ! यह सोचकर ही दूसरे के दुःख से मन द्रवित हो गया और रजनी के साथ दो-तीन दिनों तक रह सकूंगा —यह सोचकर ही मन-मयूर नाच उठा।

ब्याह के बाद पहली बार रानीगंज आया था। इस बार वहां नलिनी दीदी नहीं थीं। तीर्थ से लौटने के बाद वे वर्दवान चली गई थीं। बस, वहां रजनी थी, सो थी ही।

रात में रजनी मेरे पास आई। कमरे में टेबल-लैम्प जल रहा था। दरवाज़ा बंद करके वह निकट आई। उसके मुख-मंडल पर एक स्निग्ध, आनन्दमय हंसी थी।

"महाशय, कैसे हो ?" वह बिछावन के पास आ खड़ी हुई। बायें हाथ से उसने कंधे पर साड़ी को थोड़ा और नीचे खींच लिया। यथा-रीति उसके मुंह में पान था।

रजनी की ओर निहारते ही लगा कि मेरी बालिका वधू अब तरुणी हो चुकी है।

उसके माथे के खोंपे, बालों के गुच्छे, गले की गठन, आंख-मुंह के भाव, हाथ, देह सब पर एक नवीनता की श्री तथा लावण्य छा गया था। इसके पहले जैसे मैंने कभी न समझा था, न देखा था कि रजनी इतनी सुन्दर है। मैं अपलक मुग्ध नेत्रों से उसे निहार रहा था।

अपने रूप-सौंदर्य पर मुझे अभिभूत होता देखा तथा मेरी मनो-दशा को समझकर उसने कौतुक का अनुभव किया। बोली—'इस देह

कहा है। तुम लड़कियों से मिल-जुल नहीं सकोगे।"

"क्या होगा मिलने-जुलने से?"

"वाह, फिर मैं···!"

रजनी ने बात को इस तरह कहा जैसे सचमुच तब उसकी क्या गति होगी। उसकी इतनी सरलता और नादानी ने मेरे हृदय को किस आनन्द और पुलक से भर दिया, यह बता पाना मेरे लिए संभव नहीं। हंसकर मैंने कहा—"नहीं, नहीं मिलूंगा-जुलूंगा।'

"मुझे छूकर कसम खाते हो?"

"हां, तुम्हें छूकर कसम खाता हूं।"

वह चुप रही, जैसे थोड़ी देर के लिए अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने की भाषा उसे नहीं मिली। बाद में उसने अपनी उंगली से मेरी छाती पर 'रजनी' लिखा और कहा—"बस, और दूसरी कोई नहीं।" कहकर उसने मेरी छाती पर माथा टेक दिया।

बातों ही बातों में रात बढ़ गई। रजनी और मैं दोनों ही अगल-बगल लेटे हुए थे। टेबल-लैम्प तब भी जल तो रहा था, किन्तु रह-रहकर वह कांप उठता था। बाहर हवा का झोंका तेज था। वर्षा कभी-कभी होती थी।

उसे जैसे कुछ याद हो आया,—"अब मैंने अच्छी तरह सोना सीखा है। अब तुम्हारे सिर की ओर पांव नहीं करूंगी।"

"अगर करोगी भी तो क्या होगा?"

"क्यों?"

"देहि पदपल्लवमुदारम्—"

"यह क्या है? क्या मतलब है इसका?"

अर्थ बता देते ही उसने मेरे पांवों के पास से अपने वदन को हटाते हुए भर्त्सना के स्वर में कहा—"आच्छा!"

रहे हो ? अपनी भार्या को नहीं पहचान सकते ?"

"सचमुच…। तुम कैसी बदल गई हो !"

"तुम भी तो ।"

"लड़कियां जल्दी ही कैसी बदल जाती हैं—चन्द्रा भी कैसी…।"

"चन्द्रा के बच्चा होगा ?"

"किसने कहा ?"

"उसने मुझे लिखा है ।"

न जाने क्यों, हवा की तरह मेरा मन भी जैसे कहीं किसी एक रहस्यमय प्रदेश में जाकर भटकने लगा ।

"ज़रा खड़े होओ तो ।"

"क्यों ?"

"देखूं न, मैं तुम्हारे कंधे से ऊपर तक ऊंची हुई कि नहीं ।"

मैं उठ खड़ा हुआ । अपनी ऊंचाई नापने को आते ही उसने हठात् झुककर मेरे पैर छू लिए । बाधा देने का समय ही नहीं पा सका । प्रणाम करने के बाद उसने कहा—"तीर्थ से लौटने के बाद प्रणाम करना चाहिए, फिर तुम तो मेरे गुरुजन हो ।" कहकर हंसते-हंसते अपनी ऊंचाई मापी । वह मेरे कंधे से पार होकर गाल तक पहुंच गई थी ।

हम दोनों बैठे । उसने कहा—"तुम क्या एक बार में ही पास करोगे ?" कहकर अपनी उसी पुरानी शरारत-भरी नज़र से वह मुझे देखने लगी ।

"शरीफों की एक ज़बान होती है ।" मैं हंसा ।

"उसके बाद बांकुड़ा पढ़ने जाओगे ?"

"पिता जी ने ऐसा ही कहा है ।"

"वहां लड़कियां भी पढ़ती हैं, बड़ी-बड़ी लड़कियां । चन्द्रा ने मुझे

कहा है। तुम लड़कियों से मिल-जुल नहीं सकोगे।"

"क्या होगा मिलने-जुलने से?"

"वाह, फिर मैं···!"

रजनी ने बात को इस तरह कहा जैसे सचमुच तब उसकी क्या गति होगी। उसकी इतनी सरलता और नादानी ने मेरे हृदय को जिस आनन्द और पुलक से भर दिया, यह बता पाना मेरे लिए संभव नहीं। हंसकर मैंने कहा—"नहीं, नहीं मिलूंगा-जुलूंगा।'

"मुझे छूकर कसम खाते हो?"

"हां, तुम्हें छूकर कसम खाता हूं।"

वह चुप रही, जैसे थोड़ी देर के लिए अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने की भाषा उसे नहीं मिली। बाद में उसने अपनी उंगली से मेरी छाती पर 'रजनी' लिखा और कहा—"बस, और दूसरी कोई नहीं।" कहकर उसने मेरी छाती पर माथा टेक दिया।

बातों ही बातों में रात बढ़ गई। रजनी और मैं दोनों ही अगल-बगल लेटे हुए थे। टेबल-लैम्प तब भी जल तो रहा था, किन्तु रह-रहकर वह कांप उठता था। बाहर हवा का झोंका तेज था। वर्षा कभी कभी होती थी।

उसे जैसे कुछ याद हो आया,—"अब मैंने अच्छी तरह सोना सीखा है। अब तुम्हारे सिर की ओर पांव नहीं करूंगी।"

"अगर करोगी भी तो क्या होगा?"

"क्यों?"

"देहि पदपल्लवमुदारम्—"

"यह क्या है? क्या मतलब है इसका?"

अर्थ बता देते ही उसने मेरे पांवों के पास से अपने बदन को हटाते हुए भर्त्सना के स्वर में कहा—"आच्छा!"

नौ

मज़ाक-मज़ाक में चन्द्रा ने जो कहा था वह यथार्थ ही था। बेल पकने से भी मुझ जैसे कौए को आनन्दित होने का कोई कारण नहीं था। और यदि विचार किया जाए तो मैं और भी बड़ा अभागा सिद्ध हुआ। द्विजेन्द्रलाल का एक गीत है—'से केनो देखा दिलो रे, ना देखा छिलोजे भालो' (क्यों उसने झलक दिखाई रे, नहीं देखना ही जो अच्छा था) इसका मर्म मैं संभवतः उस समय पूरी तरह समझ गया होऊंगा। रजनी का आविर्भाव सचमुच ही बिजली की तरह था। जैसे आते न आते ही बिजली बादलों में छिप जाती है वैसे ही रजनी से मिलने का सुख अच्छी तरह भोगा भी न था कि उससे दूर हो जाना पड़ा। दो-तीन दिन रानीगंज में रहकर लौट आया और गर्मी की दोपहरी में पंडुक का कूजन सुनते हुए तथा रात में आकाश के तारे गिनते हुए मैंने बैशाख बिता दिया। जेठ के बीचोंबीच म्लान मुख से बांकुड़ा चला जाना पड़ा।

ससुराल में दो-तीन दिन रजनी के साहचर्य-लाभ का जो सुयोग मुझे मिला था उसीसे मेरी दृष्टि में समस्त संसार अतीव मनोहर हो उठा था। मैंने एक नवीनतर रस प्राप्त किया।

तरुणी रजनी की प्रकृति में जो परिवर्तन हुआ था वह भी मुझे नजर आया था। चन्द्रा की चपलता जितनी संयत हो गई थी, उसकी चपलता उतनी संयत नहीं हुई थी। बोल-चाल में उतना गहरा आनंद और आत्मगत भाव भी उसमें उतना नहीं आ पाया था जितना कि

चन्द्रा में। तथापि अब रजनी किशोरावस्था की नादान बालिका नहीं थी, उसके स्वभाव में चपलता के बदले एक प्रकार की मनोहर गम्भीरता आ गई थी। उसकी चितवन में बिजली घर कर गई थी। बोलचाल में जो वह अपने वधूत्व के अभिमान को प्रकट करने में तत्पर हो उठी थी, उसे देखकर तो मेरी हंसी रोके न रुकती थी। आने के पहले रजनी के सामने स्वीकार करता आया था कि विवाह सम्बन्धी विषयों में उसका पहला ज्ञान चाहे जितना ही अच्छा क्यों न रहा हो, अब उसके ज्ञान में यथोचित बढ़ोतरी हुई है।

अपने संबंध में मैं इतना ही कह सकता हूं कि किशोरावस्था के अबोध और अर्धचेतन अनुभवों को कुछ और अधिक स्पष्ट रूप से समझने की शक्ति मुझमें हो गई थी। मेरी इसी बोध-शक्ति ने रजनी के नये रूप पर मुझे रोमांचित और पुलकित किया था। उस समय हम दोनों की कैसी दशा थी यह यदि काव्य की भाषा में कहना हो तो कहना होगा—तरुणाई के उच्छ्वास से मैं चंचल हवा की भांति लघु और अस्थिर था एवं रजनी सद्यःप्रस्फुटित पुष्प की भांति गंध-रूपी आह्लाद से परिपूर्ण। किन्तु विधाता ने हम लोगों के भाग्य में वसंत का आनन्द भोगना नहीं लिखा था। फिर हम लोगों में वियोग हुआ। रजनी अपने मायके में रही और मैं बांकुड़ा चला आया।

पिताजी स्वयं, मुझे अपने साथ बांकुड़ा ले आए और कालेज में भर्ती करा गए। शरत् ने मेरे रहने के लिए होस्टल में पहले से ही सब-कुछ ठीक कर रखा था। मुझे वहीं रहना था। होस्टल तो पिताजी को पसन्द था, किन्तु वहां के लड़के-बच्चों के अदब-कायदे से उनका मन नहीं भरा था।

यहां एक बात बता देना आवश्यक है कि मेरे पिताजी अपने जमाई और समधियाने पर थोड़े-से क्षुब्ध थे। दूसरा कारण यह

कि शरत् के घर में उनकी 'किशोर-विवाह और समाज-हित' नामक पुस्तक की वड़ी ही अवहेलना की गई थी। उन नीति-निर्देशों को मानकर चलने से शरत् को इस उम्र में पितृत्व का अधिकार न मिलता। यदि यह शुभ घटना और भी दो-एक वर्षों के वाद घटती तो पिताजी हार्दिक आनन्द पाते।

शरत् के प्रति उनके इस थोड़े-से क्षोभ का एक और कारण था। वह यह कि वे अपने जमाई को अदव-कायदे, चाल-चलन, पोशाक आदि में जिस तरह का देखना चाहते थे वह वैसा विलकुल नहीं था। उसकी पोशाक, वोल-चाल और वाल कटाने का ढंग वड़ा ही निराला और आधुनिक था। पिता जी उसे विलासिता और स्त्रियोचित आचरण मानते थे। अपने जमाई में पौरुप का अभाव होना उनके लिए वेदनादायक था। तो भी यह सच था कि शरत् की मेधा, चातुरी और प्रगल्भता की वे परोक्ष में प्रशंसा ही करते।

मोटी वात यह कि पोशाक, वाल कटाने के ढंग और चाल-चलन में पिता जी ने होस्टल के पढ़ाकू लड़कों और शरत् में कोई फर्क नहीं देखा।

स्वभावतः पिता जी की धारणा हुई कि वांकुड़ा जैसे आसपास के छोटे-मोटे शहर के युवकों को भी समय की हवा लग चुकी है और उनमें भी विलास-व्यसन तथा चापल्य आ चुका है। पता नहीं, देश के युवकों के इस अधःपतन से वे कितने मर्माहत हुए थे, किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि अपने वेटे और जमाई के भविष्य को सोचकर वे उद्विग्न थे।

पहले की गई व्यवस्था के अनुसार और शरत् की चेष्टा से मुझे उसीके कमरे में जगह मिल गई। पिता जी लौट गए। वापस जाकर उन्होंने हम लोगों को एक उपदेशपूर्ण और लम्वा पत्र दिया। उस पत्र

का सार यही था कि संसार में अच्छाई और बुराई दोनों ही साथ-साथ रहती हैं, विशेषकर इस उम्र में तो बुराई ही अधिक रहती है, अतः इस उम्र में जो व्यक्ति बुराई के प्रति होने वाले आकर्षण और कमजोरी को छोड़कर अच्छाई की ओर अपने मन को लगाता है, उसी-में चरित्र-बल जनमता है। जिसमें चरित्र-बल नहीं होता वह परिवार और समाज का अहित करने के सिवाय कुछ नहीं कर सकता।''' अर्थात् पिता जी ने हम लोगों को असत् संसर्ग नहीं करने, विलासिता के प्रति आकृष्ट न होने और सभी तरह से चरित्र-निर्माण करने के लिए लिखा था।

उस पत्र को आद्योपात पढ़ लेने के बाद म्लान मुख से शरत् ने कहा—''ससुर जी एकदम 'ओल्ड मॉडल' के हैं। लो, इसे बांधकर रखो, रोज सवेरे एक बार इसे पढ़ लिया करना।'' कहकर पढ़ने के टेबल के एक कोने से अपनी शौक की वंशी को उठाकर वह बिछावन पर जा बैठा।

बांकुड़ा आकर शरत् वंशी बजाने का अभ्यास कर रहा था। यह उसका दुर्भाग्य ही था कि इस कमरे में आते ही पिता जी की नजर उसके टेबल पर रखी वंशी पर पड़ी थी। उस वंशी को देखकर वे स्तंभित हो गए थे। उसके बाद आंखों के इशारे से वंशी को दिखाते हुए बड़े गंभीर स्वर से उन्होंने पूछा था—''कौन बजाता है?''

शरत् का मुंह फक हो गया था। मुंह सुखाकर सिर खुजलाते हुए उसने जवाब दिया—''जी'''मैं।''

''कालेज में सिखाते हैं?''

शरत् ने इसका अर्थ नहीं समझा, समझ पाने जैसी हालत भी नहीं थी, वह चुप रहा। हठात् उसे एक उपाय सूझा। अपने बचाव के लिए किसी तरह रुक-रुककर उसने कहा—''जी साउंड'''फिजिक्स में हम

साउंड पड़ते हैं।...इसीलिए वंशी को एक दिन वजाकर उसका रेसो-नेन्स (झंकार) देख रहा था...।"

भर्त्सना पूर्ण दृष्टि से पिता जी ने अपने जमाई को समझा दिया, "झूठ मत वोलो।"

शरत् ने मुंह छिपा लिया।...वही वंशी शरत् अव भी वजा रहा है।

पिता जी की उपदेशपूर्ण चिट्ठी पड़ी रही। शरत् वंशी वजाने लगा। मैं खिड़की के वाहर ताकता हुआ वैठा रहा।

आकाश में मेघ छाए हुए थे। वर्षा हो रही थी। वादल वाली हवा की महक से मेरा मन उदास होकर घर की ओर भाग चला। खवर मिली है, कि रजनी मेरे यहां आ चुकी है।

थोड़ी देर वंशी पर गाने का एक टूटा हुआ अस्पष्ट सुर वजाकर उसने वजाना वंद किया। उसके वाद पूछा—"सिनेमा देखने चलोगे क्या ?"

तव मेरा मन रजनी के शाम में खोपा वांधने और सिंगार करने का दृश्य देख रहा था। संभवतः इस ढलती शाम में चन्द्रा और रजनी एक-दूसरे का खोपा वांधने वैठ, खिड़की से होकर आषाढ़ के आकाश का मेघ-संचार देखती हुई, हम लोगों की वातें सोच रही होंगी।

"क्या जाओगे ?" शरत् ने दुवारा पूछा।

"कहां ?"

"सिनेमा।...क्या सोच रहे हो ? रजनी की वात ?"

"तुमने कहा था न कि तुम मुझे वे दोनों कितावें खरीदवाने ले जाओगे ?"

"ठीक है, कितावें खरीदना और सिनेमा देखना दोनों ही होगा।"

अगर-मगर करते मैंने कहा—"रोज-रोज सिनेमा देखना..."

"तुम एकदम 'बाप का बेटा' हो रहे हो। चलो, उतना चरित्र गांठने की जरूरत नहीं है। जो होना है अपने-आप ही होगा।"

नशा और आकर्षण दोनों को ही जमने में देर लगती है। पहले-पहल देखा-देखी में साध होती है, इच्छा होती है, आग्रह उत्पन्न होता है। किन्तु नये नशे की बला कठिन होती है। शुरू में तो नशा सहा ही नहीं जाता है। क्रमशः उसे सहने की आदत लगानी होती है, अत में यही नशा उन्मत्त बना देने वाली शक्ति पा जाता है।

कॉलिज में पढ़ने का आकर्षण मुझे कितना ही आग्रहशील क्यों न बना दे, किन्तु बांकुड़ा आकर मेरा मन उदास और सूना-सूना रहने लगा था। जन्म के बाद से ही माता-पिता, भाई-बहिन के साथ रहा था। उन लोगों को छोड़कर कहीं नहीं गया, आज सहसा उसी घर के परिवेश को छोड़ आने से मुझे अच्छा नहीं लग रहा था। मेरी एक बुरी आदत थी, शायद वह मेरी कमजोरी थी, कि मैं जब नहाने जाता था तो माता जी अपने हाथों से मेरे सिर के बालों में तेल लगाया करती थीं। जब मैं बहुत छोटा था, तभी से मैं, स्वावलंबी हो उठा, किन्तु इसके बावजूद अपनी इस खास आदत को मैं नहीं छोड़ सका था और माता जी ने भी उसे नहीं छोड़ा था। होस्टल आने पर नहाने के समय शरत् के कहने के अनुसार जब मैं सुगंधित तेल लगाता था, तब न जाने क्यों मेरा गला भर आता था। मेरा मुंह देखकर शरत् कहीं ताड़ न जाए, इस भय से मैं स्नान-घर की ओर भाग जाता था। पिता जी, और भाई, यहां तक कि चन्द्रा—जिसे बिना देखे रह जाने की आदत अब तक मेरी हो जानी चाहिए थी—के लिए भी मन छटपटाया करता था। रजनी के विरह में तो मन की व्याकुलता का अंत ही नहीं था।

मेरे घर के शांत, कोलाहलहीन परिवेश के साथ इस होस्टल के

परिवेश का कहीं मेल नहीं था। हम लोगों की उस ग्राम्य और अति-परिचित स्निग्ध प्रकृति से मेरे जन्मकाल से ही मेरा एक अटूट सम्पर्क हो गया था उस सम्पर्क के टूट जाने के कारण मेरा मन जैसे मरा-मरा-सा रहता था। मैं एक नितान्त ग्रामीण वालक था। लोहा कारखाने के जिस स्कूल में मैंने अब तक शिक्षा पाई थी, वहां कोई चमक-दमक नहीं थी। कुछ ही पक्की इमारतें थीं, वाकी सभी कच्ची और पुआल के छप्पर वाली थीं। शिक्षक आदि भी नितान्त साधारण समाज के आदमी थे। वहां के स्कूल के कमरों, शिक्षकों तथा मित्रों से मेरा वड़ा हार्दिक सम्पर्क था। वांकुड़ा के कॉलेज में पढ़ने आने पर उस हार्दिकता का लेशमात्र स्पर्श भी यहां की किसी वस्तु से नहीं पाता था। मिशनरी कॉलेज होने के कारण इसको वड़ी तड़क-भड़क के साथ वनाया गया था। वहुत वड़ी इमारत के भीतर वड़े-वड़े हॉल वनाए गए थे। कॉलिज के अदव-कायदे और रोव का तो कुछ कहना ही नहीं। किन्तु मुझ जैसे नवागत को वे सव केवल विमूढ़ ही करते थे।

इसलिए कालेज में पढ़ने का मेरा आग्रह, शुरू में किसी नावालिग के शौक से नशा करने जैसा था। अनभ्यास के कारण मुझे कदम-कदम पर परेशानी उठानी पड़ती थी और लगता था, जैसे मेरा दम अटक जाएगा।

देखते ही देखते इस नशे ने जोर पकड़ लिया। पहले जिसमें कोई आनन्द नहीं पाता था, वाद में वही अत्यधिक आनन्द का उपादान हो उठा।

कालिज की पढ़ाई-लिखाई पूरे जोर से शुरू हो गई थी, सहपाठियों से जान-पहचान गहरी होती जा रही थी, और मैं धीरे-धीरे होस्टल के जीवन का अभ्यस्त हो उठा। मेरी गृह-पीड़ा वहुत-कुछ अन्तर्हित हो गई। मैं कालेज-जीवन के रोमांच, मस्ती, स्वाधीनता और सुख का

स्वाद पाने लगा।

यह स्वीकार करने में बुराई नहीं कि शरत् की विशेष सहायता से ही मेरे धोती पहनने के ढग, बाल सवारने के ढग और कमीज की ब्योंत से ही मेरे शहरी युवक हो उठने का परिचय मिलने लगा। अब बातचीत से भी निपुणता झलक पड़ती थी।

एक बात के लिए शरत् ने मुझे सतर्क कर दिया था। उसने कहा था—"यहां कुछ बड़े आवारा लड़के हैं, जिन्हें मैं 'आउट सिगनल' कहता हूं, उनकी संगति में मत पड़ना।"

शरत् ने मुझे उन आवारा लड़कों के नाम और परिचय बताते हुए कहा—"वे सब मनचले हैं, लड़की देखते ही राल टपकाने लगते हैं। उनसे सावधान रहना!"

शरत् एक आत्मीय मित्र का दायित्व निभा रहा था। उसके वैसा न करने से भी कुछ आता-जाता नहीं था। उन खतरनाक लड़कों से कभी मेरा मिलना-जुलना ही नहीं हुआ। इस संबंध में सदैव मुझे डर बना रहता था। नीचता मैं सह नहीं सकता था। वे सब दुःशील, असभ्य तथा नीच स्वभाव के थे।

रजनी ने आशंका प्रकट की थी कि कॉलेज में बड़ी-बड़ी लड़कियां पढ़ती हैं, उन लोगों से मिलने-जुलने से मेरी मति मारी जाएगी। झूठ नहीं कहूंगा, रजनी के नाम एक पत्र में मैंने इस विषय में सरलता-पूर्वक यह स्वीकार किया था कि उसकी बात छोड़कर मैं किसी और की बात नहीं सोचता, और न उसके चेहरे के सिवाय किसी और के चेहरे में मेरी रुचि है।

ईश्वर ही जानते हैं कि यह बात कितनी सच थी। मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं कि हम लोगों की कक्षा में लड़कियों की संख्या नितान्त नगण्य थी। कक्षा के शुरू में वे दल बांधकर प्रोफेसर के पीछे-

पीछे आतीं और पढ़ाई खतम होने पर उसी तरह चली जातीं। कक्षा के शैतान लड़के कहते, यात्रा की 'सखियों का दल'। उनके संबंध में दो-चार ठट्टा और हंसी-मजाक नहीं होते, ऐसा नहीं; किन्तु हम लोगों में से कोई भी आपत्तिजनक बात नहीं बोलता था। प्रणय-कांड कोई नहीं घटा, वैसा अवसर नहीं था। यह अफसोस की बात है कि हमारी सहपाठिनियों में कोई भी ऐसी सुन्दर और सुश्री नहीं थी कि जिसपर तन ढल जाता। वे सब साधारण गृहस्थ घरों की लड़कियां थीं। वे अपने स्वाभाविक संकोच, जड़ता और संस्कार-वश अपने ही घेरे के भीतर रहतीं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि रजनी को मैंने एक अक्षर भी झूठ नहीं लिखा था। उसका मुंह भूलकर, किसी दूसरी के मुंह के बारे में सोचने का कोई संगत कारण भी नहीं था।

शरत् कहता कि रजनी का नाम जपते-जपते मेरा सब कुछ ही 'रजनीमय' हो गया है। उसने मेरे नाम से एक छंद भी रचकर रजनी के पास भेजा था। उसमें उसके कवि होने का प्रमाण भले ही न हो, किन्तु उसके रसिक होनें का प्रमाण तो उसमें था ही। उस छंद के चरण मुझे आज भी याद हैं। शरत ने लिखा था—

दिनमान जले प्राण कहूं तुम्हें सजनी,
कब दिन ढलेगा दरस देगी रजनी!

इसका पलटा जवाब देने में रजनी ने भी कदम पीछे नहीं हटाया था, उसने सुन्दर छंद की रचना की थी—

रजनी के आते ही आती गाढ़ी तन्द्रा,
ननदोई पाते हैं प्यारी ननद चन्द्रा।

शैतान शरत् ने भी स्वीकार किया था कि जवाब बुरा नहीं था। कहना भूल गया था कि रजनी और चन्द्रा के साथ हम लोगों

के पत्राचार करने में एक कौशल था। सीधी तरह से अपनी-अपनी पत्नी से हम लोगों का पत्राचार करना वाछनीय नहीं था। पिता जी उसे शायद ही पसन्द और बरदाश्त करते। मौखिक निषेध तो नहीं था, किन्तु उनकी 'किशोर-विवाह और समाजहित' पुस्तक में जिन सारे नियम-कानूनों का उल्लेख था, उनके अनुसार दाम्पत्य जीवन-यापन करने योग्य उम्र और समझ न होने तक 'प्रेम-पत्र' लिखना निषिद्ध था। शरत् अपने साथ मुझे भी ले डूबा था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि झट से बच्चे का भावी पिता बनकर उसने एक बहुत बड़े कानून को तोड़ा था, फिर दुबारा एक और अन्याय यदि हम लोग कर बैठते तो पिता जी शायद ही हम लोगों को क्षमा करते। इस बात का भी डर हम लोगों को था। पिता जी की दृष्टि में तब तक हम लोग दाम्पत्य जीवन-यापन करने योग्य नहीं हुए थे। इसलिए निरुपाय होकर हम लोगों को एक कौशल करना पड़ा था।

मेरे बाकुड़ा आने के पूर्व शरत् जो चिट्ठियां मेरे नाम से मेरे घर भेजता था वे शायद ही मेरे लिए कही जा सकती थीं। मेरे नाम के लिफाफों के भीतर की चिट्ठियां वास्तव में चन्द्रा के लिए थीं।

बाकुड़ा आने के पूर्व चन्द्रा के साथ इसी तरह का एक षड्यंत्र रचकर मैं आया था। यह तय हुआ था कि रजनी के आने पर वह (चन्द्रा) उसे उस (षड्यंत्र) के बारे में बता देगी। उसी के अनुसार बांकुड़ा से भेजे गये अपने सभी पत्रों पर मैं चन्द्रा का नाम लिखता (पिता जी को लिखे गए अपने सभी पत्रों को छोड़कर)। स्वभावतः वे पत्र बहिन के नाम भाई के पत्र माने जाते। किन्तु वास्तव में वे होते कभी रजनी को लिखे गए मेरे पत्र और कभी चन्द्रा को लिखे गये शरत् के पत्र। कौन-सा पत्र किसका है, इसे समझाने के लिए हम लोग एक सांकेतिक चिह्न का व्यवहार करते। लिफाफे के पीछे

एक किनारे में वड़ी सावधानी से, ताकि किसीको कोई सन्देह न हो, क्रास-चिह्न देने पर वह रजनी का पत्र होता, नहीं तो चन्द्रा का। इधर भी वैसी ही व्यवस्था थी। बांकुड़ा आने वाले सभी पत्र मेरे नाम आते और भेजने वाली होती चन्द्रा। दोनों ओर के दो जोड़ तरुण दम्पतियों के लिए पत्रों के आदान-प्रदान का एकमात्र यही उपाय रह जाने से कभी कोई न कोई असुविधा हो ही जाती थी। पत्र लिखने की इच्छा तो लगाम नहीं मानती है और न उसका कोई हिसाब होता है और न कोई नियम। वह तो कभी भी हो सकती है। इसलिए जब कभी वर्षा के प्रकोप, नये कदम्ब की महक अथवा रात में देखे किसी मधुर सपने के प्रभाव से प्रेरित होकर रजनी को एक चिट्ठी लिखने की साध जागती, तो देखता कि वह शरत् के पत्र लिखने की बारी होती। अपनी बारी शरत् मुझे दे दे, इतनी उदारता शरत् में नहीं थी, यह भी स्पष्ट कह दूं कि अपनी बारी शरत् को दे देने की उदारता मुझमें भी नहीं थी।

चन्द्रा ने कई बार बड़ी गड़बड़ी की थी। सांकेतिक चिह्नों को ठीक से व्यवाहर करने में भूल करके उसने मुझे लज्जाजनक स्थिति में डाल दिया था। रजनी का लिखा पत्र समझकर जब मैं खोलता तो वह शरत् को लिखा गया चन्द्रा का पत्र निकलता। दो-चार शब्दों पर नज़र पड़ ही जाती और मैं लाज से मर जाता। इतनी अन्यमनस्क भावी जननी अपनी संतान को किस तरह पालेगी, यह सोचकर मैं उद्विग्न हो जाता।

पूजा की छुट्टी आ गई थी। प्रकृति वर्षा के बीत जाने के पूर्व की लीला दिखा रही थी। आकाश मानो सद्यःधौत और सिक्त था, किन्तु तब तक उसमें नीलिमा नहीं जमी थी। धूप की चमक बदली नहीं थी। शारदीय वायु में पूजा की गंध जितनी ही बढ़ती जाती, घर जाने

की मेरी छटपटाहट भी उतनी ही बढ़ती जाती। ऐसे समय में एक दिन रजनी का लिखा पत्र आया, संवाद मिला, चन्द्रा को पुत्र हुआ है।

इतने बड़े शुभ संवाद ने शरत् को पहले-पहल एकदम विमूढ़, हतबुद्धि और निर्वाक् कर दिया। कुछ देर के लिए वह विश्वास-अविश्वास के बीच पड़ा रहा, अन्त में जब वह अपनी स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त हुआ तब खुशी से उसने एक छलांग लगाई। अपने और मेरे बिछौने को तितर-बितर करते हुए उसने कई बार बच्चे की तरह सिर के बल घरसी खाई, सिरहाने का तकिया उठाकर फेंका और उसके बाद वह कहकहे लगाता और चिल्लाता रहा। आखिर जब उसे अपनी सुध आई तो मेरे मुंह-दर-मुंह खड़ा हो अपना हाथ उठाकर बोला—"नाउ आई एम ए फ़ादर।"

फिर, सारी रात शरत् ने क्या किया था, यह न बताना ही अच्छा था। यदि बालिग पिताजी इस नाबालिग पिता की करतूत देखने का सुयोग पाते तो वे पितृत्व की पद-मर्यादा की ऐसी जग-हंसाई को शायद ही माफ कर सकते। असली बात यह थी कि 'वह पिता बन गया है', यह सोचकर वह जितना विस्मित और आनन्दित हुआ था, उतना ही मानो उसने खुद अपने बारे में कौतुक का अनुभव किया था।

एक बार वह थोड़ा रोया था। क्यों रोया था, यह नहीं जानता। मैं यह समझ नहीं सका कि उसका वह रोना आनन्द के कारण था, या किसी ऐसे आवेग के कारण, जिसे वह प्रकट नहीं कर पा रहा था।

दस

पूजा के समय मैं घर आता। शरत् मेरे साथ नहीं आता। यह
हले से ही तय था कि पूजा के कई दिन बाद, लक्ष्मी-पूजा के समय
ह हम लोगों के यहां आएगा। लौट आने पर अपने घर में देखने
ोग्य चीजों की कमी नहीं लगती थी। चन्द्रा का पुत्र, स्वयं
न्द्रा, रजनी—सभी तो दर्शनीय थे। चन्द्रा के पुत्र को देखकर तो मैं
सते-हंसते बेहाल हो गया। कई पुरानी यादें फिर ताजा हो गईं। एक
ार बचपन में चन्द्रा ने अपनी सिर-फटी एक गुड़िया को तेल लगा-
र जाड़े की धूप में रख दिया था। कहीं से थोड़ा-सा पानी लाकर
ंने उसे नहला दिया था। इससे उस गुड़िया का सिर गलकर कीचड़-
ा हो गया था। उस दिन पांव पसार, कर बैठी चन्द्रा जिस तरह
ार-स्वर में रोई थी, उसे किसी शोकाहत जननी के लिए भी सहन
रना मुश्किल था। अत्यन्त क्रुद्ध होकर मैंने बहन को दुर्वासा की तरह
भिशाप दिया था कि उसके संतान होने पर उसके दो सिर होंगे।
ता नहीं, क्यों ऐसा अद्भुत अभिशाप मैंने दिया था। शायद मेरी
ारणा थी कि दो सिर होने से यदि एक फट भी जाए तो दूसरा नहीं
टेगा और यदि पानी में पड़ भी जाए तो उसके गलने की संभावना
हीं रहेगी। उस अभिशाप की याद आने से मैं बहुत हंसा। उसके पुत्र
 मेरे मन में पर्याप्त कौतुक का संचार किया था। उसका रंग और
ेहरा एकदम शरत् जैसा था, किन्तु रोने का ढंग हू-ब-हू चन्द्रा के रोने-
ैसा। बड़े आश्चर्य की बात थी, इस बार चन्द्रा को मैंने एक ऐसी

कमनीय तथा स्नेहमयी मूर्ति के रूप में देखा कि लगा, मानो उसका मन-प्राण संतान की ओर ही लगा हुआ है। मैंने सोचा था कि संतान के लालन-पालन में वह अकुशल होगी, परन्तु उसे देखने के बाद मुझे मालूम हुआ था कि मेरा वैसा सोचना कितना गलत था। रजनी भी बड़ी कुशलता से उस नवजात शिशु को गोद में लेकर दुलारती-पुचकारती थी, हिलाती-डुलाती थी। वह उस शिशु के गाल को थपथपाती और मुंह बनाती हुई रुक रुक-रुककर जिस तरह दुलारी रही थी उसे देखकर मैं आतंकित हुआ। रजनी बड़ी असावधान थी। हंसकर मैंने चन्द्रा को कहा—"बच्चे को जिस-तिस को मत छूने देना —हाथ-पाव तोड़ के रख देगी।"

रजनी निकट ही थी। मेरी बात सुनते ही उसने मुंह घुमाया और भौंहें और टेढ़ी करके एक ऐसी मुद्रा बनाई जिसका अर्थ था—अच्छा, ऐसी बात है क्या!

चन्द्रा ने तभी चुटकी ली—"तुम्हारी पत्नी क्या अभी भी बच्ची ही है?"

मेरी वधू अब किसी भी रूप में नाबालिग नहीं थी, चन्द्रा का यह बताना निरर्थक था। बल्कि मुझे तो लगा कि कुछ महीने पहले भी थोड़े समय के लिए मैंने उसे जिस रूप में देखा था, उसमें भी थोड़ा-सा और परिवर्तन हुआ था। वास्तव में विवाह के बाद वह जो दो-एक बार हम लोगों के घर आई थी, वह तो रात-भर के लिए आकर भोर होते ही उसका चला जाना कहा जा सकता है। वह तो जैसे उसका शौकिया भ्रमण-मात्र था। वास्तव में वह इस घर को अतिथि लगती थी। अतिथि की तरह ही उसका समादर होता, वह भी क्षण-भर के लिए सुख-आनन्द देकर चली जाती। अब वह अतिथि नहीं, घर का अंग थी। अब उसे इस परिवार से अपना संबंध स्थापित

करना पड़ रहा था। स्वभावतः ही उसके हाव-भाव और काम-काज से उसका अधिकार स्पष्ट रूप से प्रकट हो रहा था। तब एक बात थी कि इस परिवार के कामों में जितना वह हाथ बंटाती थी, उससे अधिक उसकी आवाज़ सुनाई पड़ती थी। शरत् ने मुझे बताया था कि किसी संस्कृत-काव्य में शायद कहा गया है कि मोरछल मयूर का भूषण है और कंठ-स्वर नारी का।

रात की ट्रेन से बांकुड़ा से आदरा-आसनसोल होते हुए मैं घर आया था। पूरे शरीर में धूल और कोयले का बुरादा पड़ा हुआ था। नहाते-धोते और खाते-पीते शेष-आश्विन की वेला हठात् अत्यन्त निष्प्रभ हो उठी। धूप की मलिनता देखकर आकाश की ओर ताकते ही दीख पड़ा, घटा छा रही थी। हवा तेज़ थी। खिड़की के बाहर जो नज़र गई तो देखा, धान के खेतों में मानो हरियाली-रूपी जल की उठती-गिरती तरंग हवा के झोंके के साथ दिगन्त की ओर चली जा रही थी। उस तरंग पर कभी बादल की छाया पड़ती और कभी धूप की। हवा की सी-सी की आवाज़ थमती नहीं, कांस-फूल का सफेद झालर लहराता ही रहता और रह-रहकर दहियल पंछी की बोली कानों में आती रहती। खिड़की के पास खड़े होकर इन सबके साथ अपना सम्पर्क अनुभव करते ही बचपन की स्मृतियां मेरी आंखों में तन्द्रा की तरह छा गई।

बिछावन पर लेटकर कब जो सो गया, यह पता नहीं। सारी रात की अनिद्रा और अलसता मध्याह्न में जब अपना-अपना पावना लेकर विदा हो गईं तब आंखें खोलते ही देखा, कमरे में अंधेरा छा गया था। खिड़की के समीप आकर खड़े होते ही अपराह्न की आलोक-हीनता के साथ मेघाच्छन्न वातावरण दृष्टिगोचर हुआ। पागल आश्विन के मुंह की यह तमतमाहट आज शायद दूर नहीं होगी।

लगता था, किसी भी क्षण बादल चू पड़ेगा, किन्तु वर्षा हो नहीं रही थी। अपनी साइकिल को झाड़-पोंछकर बाहर निकाला था, मित्रों से भेंट-मुलाकात करने जाना था। माजी ने मुझे जाने को मना किया था। उन्हें डर था, वर्षा आने पर मैं भीग जाऊंगा। किन्तु उनका निषेध सुनने की अपेक्षा मित्रों से मिलना ही मुझे अधिक पसन्द था। कालेज से जितनी बातें, जितने रोमांच और आनन्द लिया था, जब तक इन्हें मित्रों में बांट नहीं पा रहा था तब तक चैन नहीं मिल रहा था। मित्रों में भी कुछ हेतमपुर और बर्दवान कॉलेज में पढ़ते थे। उनकी भी तो बातें सुननी थीं।

साइकिल लेकर दालान होकर जा रहा था कि रजनी से मुहदर-मुंह भेंट हो गई। मुझे देखकर वह रुकी, क्षण-भर में उसने इधर-उधर देख लिया, उसके बाद अपने कंधों को झटकारती हुई मृदु स्वर में बोली—"वाह, क्या ढंग है कपड़े पहनने का! लटपटे बाबू, जाओ, कपड़े फाड़ आओ।"

रजनी का यह तिरस्कार और अधिकार से मिश्रित कथन तथा उसके कहने का ढंग मुझे इतना सुन्दर लगा कि मैं हंस पड़ा। बोला—"पुराने कपड़े हैं··· ससुराल के।"

मेरे इस दो-टूक जवाब पर रजनी शायद साश्चर्य मुझे देख रही थी। हंसते हुए कनखियों से उसकी ओर देखकर मैंने साइकिल की घंटी दबा दी। सशंक नयनों से उसने चारों ओर देखा, उसके बाद अपने उसी पुराने ढंग से जीभ निकालकर मेरा मुंह चिढ़ाती हुई वह भाग खड़ी हुई।

लौटते-लौटते संध्या बीत गई थी। एक बार बरसने के बाद बादल आकाश में बिखर गए थे, हवा बहुत ही चंचल हो उठी थी। पेड़-पौधे, घास, मैदान, सभी भीग गए थे। हवा में जल-कण की

आर्द्रता थी । पंचमी तिथि थी। गांव के पूजा-मंडप में रह-रहकर ढोल बज उठता था । रास्ते-भर शरत् का सिखाया हुआ एक गीत गला फाड़कर गाता हुआ आया था । यह पता नहीं कि मेरे उस तन्मय चित्त के गीत के कुछ अंश को पवन उठाकर कहां ले गया था, किन्तु शेष अंश ने मेरे हृदय को विभोर कर दिया था । घर पहुंचकर शेफाली गाछ के नीचे खड़े हो जाने पर भी उस गीत की अनुगूंज को मैं रोक नहीं पा रहा था । हठात् खयाल हुआ कि घर पहुंच गया हूं । सहसा गीत थम गया। बाहर पिता जी के बैठकखाने में बत्ती जल रही थी । समझ नहीं सका कि मेरा गीत उनके कानों तक पहुंचा था या नहीं । मैं थोड़ा-सा आतंकित हुआ । तथापि देह और माथे पर की जल की कुछ बूंदें, पांवों का थोड़ा-सा कीचड़, शारदीय संध्या का आर्द्र पवन तथा शेफाली की मधुर सुगंध जैसे बहुत देर बाद मुझे अपने जगत् में लौटा लाए ।

रात को बिछावन पर लेटकर बंकिम-ग्रंथावली का एक खंड पढ़ रहा था । कुछ पन्ने पढ़ चुका, इतनी देर हो गई तब भी मेरी प्रत्याशित बाला नहीं आई थी । रह-रहकर मैं दरवाजे की ओर ताकता, कान लगाता, किन्तु जिसकी आशा में था उसकी पद-ध्वनि तक कान में नहीं आ रही थी। खिड़की की ओर ताकने पर लगता कि रात बहुत जल्दी बढ़ती जा रही थी ।

आखिर, रजनी आई । उसकी पद-ध्वनि सुनकर मैं एक अच्छे छात्र की तरह पेट के बल लेटकर बड़े मनोयोग से बंकिम-ग्रंथावली पढ़ने लगा ।

वह भीतर घुसी । मैंने सिर नहीं उठाया, सिर नहीं उठाने पर भी मैं समझ गया कि उसने दरवाजा बंद किया है ।

वह बिछावन के पास मेरे सिरहाने आ खड़ी हुई। मैंने जान-बूझ

कर एक पन्ने को उलटकर किताब पढ़ने में मन लगाया।

दो पल रुककर शायद उसने कुछ सोचा। हठात् मैंने देखा कि टेबल-लैम्प धीरे-धीरे मद्धिम होता जा रहा था। फिर उठाकर देखा, रजनी का हाथ बत्ती उकसाने वाली कल पर था और वह क्रमशः बत्ती को मद्धिम करती जा रही थी।

"ओ, तुम हो!" जैसे अभी मैंने न कुछ देखा था, न समझा था।

अपने माथे को एक ओर अधिक झुका कर विनोद करती हुई वह बोली—"जी हाँ, महाशय, मैं हूँ…।"

उसकी वह मुद्रा और बोलने के ढंग को देखे बिना उसकी सुन्दरता समझी नहीं जा सकती। उसे क्या कहने जा रहा था कि हठात् मुझे एक बात याद आई। बोला—"बत्ती जरा-सी उकसा दो।"

"क्यों?"

"उकसाओ न! एक मजेदार चीज दिखाऊँगा।"

उसने बत्ती उकसा दी।

"यहाँ बैठो।"

"क्या?"

"धत्, बैठो न।"

वह मेरे सिरहाने एक किनारे बैठ गई। उसकी ओर मैंने किताब बढ़ा दी और कहा—"इस जगह पढ़ो।"

"क्या पढ़ूँगी?…यह कौन-सी किताब है?"

"इन्दिरा। इस जगह पढ़ो! जोर-जोर से।"

"इस,…'मास्टरी'…!" वह मेरी ओर झुकी, उंगली से षोडश परिच्छेद का शीर्षक दिखा दिया।

फिर झुककर उसने मन ही मन पढ़ा। थोड़ा रुककर मैंने तकाजा किया, किन्तु अपनी हँसी को दबाते हुए—"जोर-जोर से पढ़ो।"

मेरी ओर किताब को ठेलती हुई बोली—"वाह रे, मैं क्या उसी की तरह हूं? मुझे क्या पड़ी है जो मैं तुम्हें सताऊंगी। जाओ तुम पढ़ते रहो।"

किताब को खींचकर मैं जोर-जोर से पढ़ने लगा—"पुरुष को दग्ध करने के उपाय जो विधाता ने स्त्री को दिये हैं, उन्हीं सब उपायों के सहारे मैंने पति को आठों पहर सताया। मैं स्त्री हूं—कैसे मुंह खोलकर यह बात बोलूंगी। मैं यदि आग जलाना नहीं जानती···।"

सहसा उसने बत्ती को प्रायः बुझा ही दिया। बोली—"हूं, बुझा दूं बत्ती।···कैसे आग जलती है, देखती हूं···।"

पति को आठों पहर सताने की बात को लिखते हुए इन्दिरा ने ऐसा क्या झूठ लिखा था, समझ नहीं सका। मैंने किताब बंद कर दी।

उसने फिर धीरे-धीरे बत्ती उकसा दी। बोली—"कालेज में पढ़कर तुम खूब पक गए हो।"

थोड़ी-बहुत पक्वता मुझमें आ गई थी, इस विषय में मुझे भी कोई सन्देह नहीं था। आपत्ति का भी कारण नहीं था। रजनी के 'खूब' शब्द का प्रतिवाद कर सकता था, किन्तु किया नहीं। बोला—"शायद खुद तुम कच्ची रह गई हो।"

उसने मेरे सिर के बाल पकड़कर हल्के हाथों से खींचे। दो पल चुप्पी रही। वह बोली—"उठो ज़रा-सा।"

उठकर खड़ा होने की जरूरत न थी, बल्कि बैठने-भर की थी। मैं उठकर बैठ गया। वह बोली—"बैठे क्या हो! खड़े हो जाओ न।"

"क्यों?"

"कैसा कर रखा है बिछावन को! झाड़ दूं।"

उसके उद्देश्य को समझने के लिए उसकी आंखों की शरारत-भरी हंसी ही काफी थी। बोला—"तुम डाल-डाल, मैं पात-पात।"

जैसे उसने कुछ समझा ही नहीं, अबोध की तरह मुंह बनाकर उसने ताकने की चेष्टा की।

"अब की नहीं होगा।" मैंने पाँव समेट लिये।

"क्या?"

"परनाम।"

वह हंस पड़ी। बाद में बोली—"होगा।"...छी, जो करना चाहिए, उसे बिना किए चलता है!" कहकर अपना मुखड़ा बनाकर और आंखें फैलाकर वह मधुर स्वर में बोली—"पति हो न! सताने की चीज।" बाद में उसने मेरा हाथ पकड़कर खींचा।

आखिर मैं उतरकर खड़ा हुआ। उसने पैर छूकर प्रणाम किया। मैं हंस रहा था।

उसने पूछा—"बड़े हंस रहे हो!"

"आशीर्वाद दिया न, इसीलिए!"

"हूं, आशीर्वाद! तो क्या आशीर्वाद दिया मेरे देवता ने!"

"मन ही मन दिया है। बताऊंगा नहीं।"

"जानती हूं।"

"क्या?"

"यही कि मैं मर जाऊं और तुम फिर एक ब्याह रचाओ।"

"अरे, क्या कहती हो?"

"वाह, तुम्हारी तो पहले यही इच्छा थी।"

"नहीं, 'नेवर'—कतई नहीं! मज़ाक मत करो।"

"ऐ झूठे! तुमने नहीं कहा था कि बड़े होकर तुम मुझे छोड़ दोगे और फिर ब्याह रचाओगे!" आंखों में धमकी भरकर माथे को झकझोरते हुए उसने इस बात की सच्चाई के बारे में जवाब मांगा।

याद आया, एक बार इस तरह के संकल्प की घोषणा मैंने की

थी; किन्तु रजनी मर जाए, यह मैंने नहीं कहा था। कैसी आश्चर्य-जनक स्मरण-शक्ति थी उसकी ! उस बात को इसने अभी तक याद रखा था। मैंने कहा—"ऐसा कब कहा है, सर। किस टाइम ! तुमने भी तो कहा था कि भूतनी होकर तु मेरी पत्नीम का गला दबा दोगी !"

"सो तो दबाऊंगी ही !" जैसे अभी भी उसने अपना विचार नहीं बदला था। हम दोनों ही हंस पड़े।

हंसी रुकी। रजनी हाथों से बिछावन को तानकर ठीक कर रही थी। वह बड़ी लगन से साज-सज्जा करती है। कई तोले अलंकार उसने पहन रखे थे—पांवों में बिछुआ, खोपे में सोने का पानी चढ़ा कांटा। खोपा उसने बड़े मनोहर ढंग से बांधा था और पहनने को नीलाम्बरी पहन रखी थी।

बिछावन की चादर को तानकर उसने उसकी सिलवटों को दूर किया, फिर दोनों तकियों को सटाकर रखा, उसके बाद वह सिरहाने की ओर गई। "पानी पियोगे?"

"नहीं।"

पान की रकाबी से पान लेकर वह निकट आई। बोली, "मुंह खोलो, 'हा' करो।"

"रात को पान खाऊंगा !"

"अजी, खाओ जी खाओ, पत्नी देती है।" उसके मधुर कंठ का परिहास ही केवल नहीं गूंजा, उसकी सद्यःलब्ध गृहिणीजात परि-पक्वता भी प्रकट हुई।

उसने मेरे मुंह में पान भर दिया, मैं चबाने लगा।

वह सरक गई, ऊपर से मुंह में पानी डालकर पिया, उसके बाद उसने पान खाया।

कैसा अद्भुत एक स्वाद आ रहा था, पहचाना हुआ-सा किन्तु

नया। पान का रस जीभ को जितना अधिक स्वाद चखा रहा था उतना ही लगता था कि वह स्वाद मेरा अपरिचित नहीं है। मुंह का भीतरी भाग ठंडा हो आया, गंध पाई—पिपरमेंट—रजनी काव ही पिपरमेंट।

रजनी को मैं देख रहा था। कुछ महीने पूर्व भी मुझे रजनी ऐसी नहीं लगी थी। उसके गठन में उस दिन यदि कहीं कोई अपूर्णता थी भी तो वह आज पूर्ण हो गई थी। मानो प्रतिमा की सारी साज-सज्जा पूरी हो चुकी थी।

बिछावन की ओर आते-आते वह, मेरी अपलक विमोहित दृष्टि को देखकर, कुछ पल के लिए रुक गई। मुझसे आखें चार होते ही अपने रूप के प्रति वह सचेत हो गई। सकुचाती हुई बोली—"चन्द्रा ने जोर करके सजाया है।" कहकर सलज्ज मंह से बिछावन पर जा बैठी। दूसरे ही क्षण उसने मुखड़ा उठाया—"एकदम हास्यास्पद ढग से सजाया है न !"

"तुम और भी सुन्दर हो उठी हो।"

"इस्स"'खुशामद'"।"

"नहीं, सचमुच, मोस्ट ब्यूटीफुल।"

"सोओगे नहीं !"

दबे-पाव मैं बिछावन पर जा बैठा। मेरे कपाल पर की लटों को बड़े ही जतन और प्यार से हटाकर उसने कहा—"तुम्हारे होंठ खूब लाल होते हैं।"

"पान खाने से होते हैं ?"

"सो तो होंगे ही, पत्नी कितना प्यार करती है भला, है न ?" हसते हुए उसने अपने मुंह को मेरे कंधे में छिपा लिया।"

"और तुम्हारे मंह से कितनी सुन्दर गध आती है, पति प्यार

करता है इसीलिए न !"

उसे बड़ी लाज लगी। उस लाज को वह सह नहीं पा रही थी। फिर उसने बत्ती बुझा दी—हठात् जैसे अंधकार आकर हम लोगों को समस्त संसार से विच्छिन्न करके अकेला कर गया।

अंधकार में रजनी के हाथों के स्पर्श, शरीर के स्पर्श, घ्राण और निविड़ साहचर्य से मैंने कभी अनुभव किया कि मेरी बालिका वधू यौवन के कुसुमों से सज्जित होकर आई है। उसके उस सद्य:पक्व यौवन की अपरूप महिमा से मेरे हृदय ने अपनी परिपूर्णता अनुभव की।

पत्नी का मुंह चूमकर मृदु स्वर से मैंने पुकारा—"रजनी !"

वह थोड़ी देर चुप रही, बाद में विषण्ण स्वर से बोली—"तुम्हारी कालेज की पढ़ाई कब खतम होगी ?"

"चार···चार वर्ष बाद।"

"ब···हुत दिनों तक पढ़ना है !" इतनी लम्बी पढ़ाई रजनी को जैसे पसन्द नहीं।

"देखते-देखते दिन कट जाएंगे।"

"दिन कटते नहीं जी, एकदम नहीं कटते···।"

"मेरे भी।" सच्ची बात स्वीकार कर मैंने दीर्घ नि:श्वास छोड़ा। उस अंधकार में भावी चार वर्ष जैसे बड़े लम्बे प्रतीत हुए। मन भारी हो गया था, किन्तु उसे मैंने प्रकट नहीं किया। उसे सांत्वना देने के लिए कहा—"वर्ष-भर में कुल पांच महीने की छुट्टी होती है, घर पर ही तो आकर रहूंगा। उसके बाद फिर तो सदा-सदा के लिए यहीं तुम्हारे पास रहूंगा।"

वह चुप रही। उसने मेरी ओर करवट बदली। उसके मुंह से पिपरमेंट की भीनी-भीनी गंध आ रही थी। दबे स्वर से वह बोली—"अब से मैं यहीं रहूंगी।"

ग्यारह

आज भी रजनी मेरे निकट ही है। लम्बे चालीस वर्ष वह मेरे निकट ही रही। अब हम लोग युवक-युवती नहीं हैं, प्रौढ़-प्रौढ़ा हो गए हैं। मेरे सिर के बाल सफेद हो गए हैं, देह टूटने लगी है। सिंदूर से रजनी की माग के आस-पास के बाल झड़ गए हैं, फलत. माग उस की चौड़ी हो गई है। उसके कुछ बाल भी सफेद हो गए हैं। उसके शरीर मे अवस्थाजन्य स्थूलता आ गई है। आखो की दृष्टि कम हो जाने से अब वह चश्मा पहनती है।

देखते ही देखते जीवन समाप्त होने को आया। सुख-दुःख मे इसी रजनी के साथ इतना समय बीत गया। पिताजी कब के स्वर्ग सिधारे, माताजी भी। भाई अपने पैरो पर खड़ा हो गया है और पत्नी, पुत्र-पुत्री के साथ यही रहता है, कोलियरी मे सर्वेयरी का काम करता है। कोई जरूरत तो नहीं थी, तो भी बिना काम के पुरुषो के दिन नहीं कटते, इसलिए वह सर्वेयरी करता है। मेरी पुत्री का विवाह हो चुका है। पुत्र डाक्टरी की पढ़ाई पूरी कर अस्पताल मे ही नौकरी करता है। मेरे पिता जी ने मेरा किशोर-विवाह किया था, मैंने वैसा साहस नहीं किया। अब दिन बदल गए हैं। चन्द्रा और शरत् ने भी राय नहीं दी। तथापि मैंने अपनी पुत्री का विवाह उसके अठारहवें मे ही कर दिया। पुत्र का भी विवाह किया है, लेकिन अभी कुछ ही दिन पहले। देर से हम लोगो के बच्चे हुए थे।

मेरे कमरे के बिछावन मे थोड़ा-सा परिवर्तन हुआ है। बड़े पलंग

पर मैं अकेला सोता हूं और रजनी वगल ही में एक छोटी-सी खाट पर। उसे कितनी वार कहा है, 'कमरे में मुझे अकेला रहने देने में तुम्हें डर लगता है?' प्रौढ़ा रजनी मेरी वात का कोई उत्तर नहीं देती।

उम्र होने पर छोटी-मोटी आधि-व्याधि लगी ही रहती है। किसी दिन मुझे अच्छी तरह नींद नहीं होती, किसी दिन मेरी सांस चढ़ जाती है, दम फूलने लगता है। कभी लगता है कि कलेजा वैठा जा रहा है। शारीरिक अस्वस्थतावश या वेचैनी के कारण यदि मैं विछावन पर उठ वैठता हूं या जरा-सा 'ऊंह-आंह' करता हूं तो सोई हुई रजनी विछावन छोड़कर मेरे पास आ जाती है। कैसे उसकी नींद टूट जाती है, मैं समझ नहीं सकता। उसके वाद वह मेरी अनेक प्रकार से सेवा-शुश्रूषा करने लगती है। उसकी नींद इतनी पतली कैसे हो गई है, समझ में नहीं आता।

आज भी वैसी ही चांदनी छिटकती है, किन्तु खिड़की के वाहर वूढ़े जामुनगाछ से मर्मर नहीं होता। अव उसके पत्तों पर चांदनी नहीं पड़ती, उसके पत्ते झड़ गए हैं, वह गाछ कव का मर चुका है। वीच-वीच में नींद टूटने पर मैं वड़ी सावधानी से विछावन पर उठ वैठता हूं। वैठे-वैठे चांदनी देखता हूं, उस आमगाछ की वातें सोचता हूं, साथ ही अपने जीवन की भी। किसी दिन दूर, वहुत दूर तक निहारता रहता हूं। आंखों की दृष्टि-शक्ति के क्षीण हो जाने पर भी, चांदनी में अव तक जिन घाट, वाट, गाछ आदि को देखा है, उन सभी का अनुमान कर सकता हूं। वाहर का वह जगत् जैसे वहुत अधिक व्याप्त है, जिसकी कोई सीमा नहीं।

आधी रात की चांदनी में शून्य तथा परिपूर्ण निस्तब्ध चर-अचर को देखते-देखते मन में कैसी अनुभूति होने लगती है। अन्धकार रहने पर दूर आकाश के नक्षत्र मानो मेरे इस क्षुद्रातिक्षुद्र घर की ओर

टुकुर-टुकुर देखते रहते हैं और शायद सोचते हैं कि इतने कम में ही मैंने कैसे शान्ति पा ली।

आजकल मैं प्रायः यह अनुभव करता हूं कि बाहर के उस सीमाहीन जगत् की निर्वैयक्तिक दो आंखें अवज्ञापूर्वक वैसे मुझे देख रही हैं। जानता हूं कि उन्हीं के निकट मुझे जाना पड़ेगा एवं विश्व की इस अनन्त तथा व्याप्त शून्यता में कहीं भी मेरा समस्त अस्तित्व एक धूलि-कण के समान भी अस्तित्वमय नहीं होगा। मैं निश्चिह्न होकर मिट जाऊंगा।…

कमरे की ओर दृष्टि लौटा लाता हूं, देखता हूं, मेरी वही बालिका वधू 'चीनी' आज प्रौढ़ा है, तथापि वह मेरे समीप है, मेरी बगल में है और परम निश्चिन्त होकर सो रही है। लगता है, अपने इस बहुत ही परिमित और संकीर्ण कमरे में मैंने जितना पाया है, वह परिमाण में कम नहीं है। मैंने क्या पाया है, यह मैं केवल अनुभव कर सकता हूं, उसे शब्द नहीं दे सकता।

बाहर के असीम आकाश, उसके दूरस्थ नक्षत्र, उसकी उत्फुल्ल ज्योत्स्ना, वे ही दिगन्त-व्यापी प्रांतर, वृक्ष, लता आदि एक दिन मुझे बड़ी उपेक्षा से इस अनिरुद्ध कक्ष से बाहर खींच ले आकर एक फूत्कार से हवा में मिला देंगे, जबकि इसी नितान्त नगण्य घर के एक कोने में मेरी बालिका वधू ने उन सबकी सामर्थ्य के परे की वस्तुएं ही दी हैं।

अपने पिताजी को मैं प्रणाम करता हूं। उनकी कृपा से मैंने बहुत कुछ पाया है।

●●

मुद्रक : ए. बी. कम्पोजिंग एजेन्सी द्वारा
शाहदरा प्रिंटिंग प्रेस, शाहदरा, दिल्ली-३२

1196